# साम्प्रदायिकता से ऊपर उठो

[ धर्म, समाज और शिक्षा से सम्बद्ध विचारोत्तेजक लेखों का
प्रेरणादायी संकलन ]


लेखक

पं० 'उदय' जैन

संस्थापक-संचालक

श्री जवाहर विद्यापीठ, श्री जैन शिक्षण संघ और

श्री प्रतापोदय सेवा संघ, कानोड़
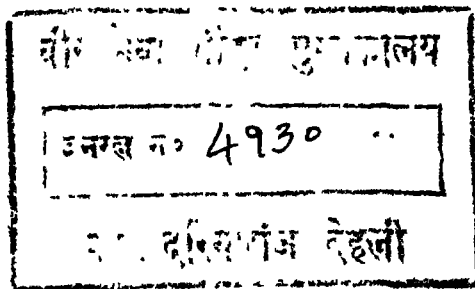




प्रकाशक

श्री जैन शिक्षण संघ, कानोड़ (उदयपुर) राज.

१९७६

# साम्प्रदायिकता से ऊपर उठो

पं० उदय जैन

प्रकाशक :

श्री जैन शिक्षण संघ

कानोड़–313604 (उदयपुर) राजस्थान

प्रथम संस्करण, 1976

मूल्य : पाँच रुपया

मुद्रक :

फ्रेण्ड्स प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स

जौहरी बाजार, जयपुर–3

जिन्होंने

अनन्त ब्रह्माण्ड के

प्राणियों की जिजीविषा की भावना का

आदर कर

'परस्परोऽपग्रहो जीवानाम्'

का उद्बोधन दिया

और

अनन्त प्रवाहमय विश्व-व्यवहार में

सुखद वृत्ति के निर्वाह के लिए

अनेकान्त और समन्वय सिद्धान्त

का प्रतिपादन किया

तथा

विश्वात्माओं को सच्चिदानन्दमय

बनाने के लिए

समता धर्म प्रशस्त किया;

उन परमात्माओं को

सादर समर्पित

'उदय' जैन

## वन्दना

ॐ णमो अरिहंताणं
ॐ णमो सिद्धाणं
ॐ णमो आयरियाणं
ॐ णमो उवज्झायाणं
ॐ णमो लोए सव्वसाहूणं ।

## प्रार्थना

सत्वेषु मैत्रीं गुणीषु प्रमोदं
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ
सदा ममात्मा विदधातु देव !

## भावना

सर्वे सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभागभवेत् ।।

## कामना

नत्वं कामये राज्यं, न स्वर्गं, न पुनर्भवम् ।
कामये दुःख तप्तानाम्, प्राणिनाम् आर्तिनाशनम् ।।

# * अनुक्रमणिका *

# दो शब्द

मैं १७ वर्ष की अवस्था से अपने आपमें साम्प्रदायिक वातावरण से ऊपर उठ गया। मेरे विचारों में परिवर्तन का सारा श्रेय पूज्य श्री जवाहराचार्य के विस्तृत दृष्टिपूर्ण विचारों को है। आज मैं उन्हीं के जन्म शताब्दी वर्ष पर उनके प्रति श्रद्धांजलि-समर्पण की तीव्र भावना से प्रेरित हो, प्रस्तुत पुस्तक विज्ञ पाठकों के लिये प्रसारित कर रहा हूं।

मेरा सर्व प्रथम लेख 'मानसिक त्रुटि' सन् १९३१ में 'जैन प्रकाश' साप्ताहिक में प्रकाशित हुआ था। उस समय मैं १७ वर्षीय गुरुकुलीय छात्र था। मेरे गुरुदेव पं० श्री काशीनाथ त्रिवेदी, इन्दौर ने मेरा उत्साहवर्द्धन किया, इस लेख को प्रकाशित करवाया। उसके बाद मेरे विचारों का विष्करण पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से बढ़ता रहा। 'साम्प्रदायिकता से ऊपर उठो' लेख के नाम पर ही प्रस्तुत पुस्तक का नामकरण किया गया है। इसमें मेरे विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में, समय-समय पर प्रकाशित लेख संगृहीत हैं।

सर्व प्रथम मेरे सम्पूर्ण प्रकाशित लेखों को सम्पादन पूर्वक पुस्तकाकार देने की प्रेरणा श्री श्रीचन्द सुराणा 'सरस' ने आचार्य श्री नानालालजी म० सा० के जयपुर चातुर्मास में दी। वे मेरे विचारों को समाज के सन्मुख रखने के लिये उत्सुक थे।

श्री विपिन जारोली, पुस्तकालयाध्यक्ष श्री जवाहर विद्यापीठ, कानोड़ ने मेरे प्रकाशित लेखों में से पुस्तकानुकूल लेखों का संग्रह किया और श्री जैन शिक्षण सघ, कानोड़ द्वारा अब इनका प्रकाशन किया जा रहा है। इस पुनीत कार्य में योग देने वाले भूमिका लेखक श्री यशपाल जैन और अभिमतदाता सर्व श्री पं० दलसुख मालवणिया, सेठ कस्तूर भाई, लाल भाई, रिषभदास रांका, अचलसिंह सांसद, श्रीचन्द सरस आदि अपने सभी सहयोगियों के प्रति मैं हार्दिक आभार प्रकट करता हूं। भाषा की अपेक्षा भावव्यञ्जना को पाठक अधिक महत्व दें और उनका विस्तार सुषुप्त और साम्प्रदायिकता से पीड़ित समाज में करें, यही मेरी अभ्यर्थना है।

मैंने पुस्तक प्रकाशन के समय निरन्तर दो माह तक रुग्ण रहने के कारण प्रूफ संशोधन का कार्य प्रेस वालों को ही सौंपा। उन्होंने अपनी दृष्टि से उत्तम कार्य किया, फिर भी अशुद्धियां रहना स्वाभाविक है। उसके लिये पाठक बन्धुओं से क्षमा मांगकर तोषित होता हूं।

'उदय' जैन
संस्थापक-संचालक
श्री जवाहर विद्यापीठ एवं श्री जैन शिक्षण संघ
कानोड़ (राजस्थान)

# भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक के छोटे-छोटे लेख संगृहीत हैं जो उन्होंने समय-समय पर लिखे थे। इन रचनाओं के मुख्य विषय समाज, शिक्षा, धर्म, भगवान् महावीर और उनके सिद्धान्त आदि हैं। वर्तमान काल में समाज अनेक बुराइयों से ग्रसित है; शिक्षा जीवन के समुचित निर्माण में अक्षम है; धर्म बाह्य क्रियाकाण्डों में सीमित है और भगवान् महावीर और उनके सिद्धान्त मात्र गुणानुवाद की वस्तु रह गये हैं। लेखक की इच्छा है कि इस स्थिति में परिवर्तन हो--समाज शुद्ध बने, शिक्षा जीवनोपयोगी हो, धर्म जीवन को धारण करने वाला हो और भगवान् महावीर मन्दिरों में पूजे ही न जायं, जीवन में प्रतिष्ठित भी हों। अपनी सरल-सुबोध शैली में लेखक ने इसी बात पर प्रकाश डाला है।

लेखक आशावान व्यक्ति हैं। वह मानते हैं कि परिवर्तन प्रकृति का नियम है—"चेंज इज दा ला ऑफ नेचर" इसी आधार पर उनकी प्रतीति है कि जो आज विकृत दिखाई दे रहा है, वह आज नहीं तो कल अवश्य बदलेगा। वह तो यहां तक मानते हैं कि "इक्कीसवीं शताब्दी युग परिवर्तन की शताब्दी है। अतः प्रतिदिन युग बदल रहा है, समाज बदल रहा है, धर्म बदल रहा है, वर्ग बदल रहा है, मस्तिष्क बदल रहा है, राष्ट्र बदल रहा है, विश्व बदल रहा है, विश्व का क्रम बदल रहा है, अनन्त विश्व का परिक्रमण बदल रहा है। इसीलिए मैं

कहता हूं—युग बदल रहा है और शीघ्र बदल रहा है। ईश्वरीय युग आ रहा है। सर्वोदय युग आ रहा है।"

लेखक की यह आस्था निःसन्देह शुभ है। पर आज का औसत इन्सान अनेक कुण्ठाओं से ग्रस्त है, निराशा का शिकार है। वह स्वीकार करता है कि विज्ञान ने इस युग में असामान्य विकास किया है। मनुष्य चन्द्रलोक में हो आया है और अब मंगल पर पहुँचने का उसका उपक्रम चल रहा है, लेकिन विज्ञान मानव को वह स्थायी सुख और शान्ति नहीं दे सका, जिसके लिए मनुष्य भटक रहा है। यह तब और तभी सम्भव होगा, जबकि विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय हो।

यह भी आवश्यक है कि ज्ञान-विज्ञान केवल बुद्धि तक ही सीमित न रहे, जीवन में भी उसका समावेश हो। इसी से जैन धर्म में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को मोक्ष का मार्ग माना है। जिस मार्ग पर हम लोगों को चलना है, सर्व प्रथम उस पर चलने की हममें श्रद्धा और दृढ़ता होनी चाहिए, फिर उस मार्ग की पूरी जानकारी आवश्यक है; लेकिन मात्र श्रद्धा और ज्ञान के होने से हम अपनी मंजिल पर नहीं पहुँच जायेंगे। मंजिल पर पहुँचने के लिए हमें चलना होगा। किसी महापुरुष ने ठीक ही कहा है—"थौट विदाउट एक्शन अबोर्शन"' अर्थात् विचार के अनुरूप आचरण न हो, तो वह गर्भपात के समान है।

एक बार एक धर्माचार्य ने विद्वानों की संगोष्ठी की। उसमें ऊँचे दर्जे के ज्ञानी व्यक्तियों ने भाग लिया। धर्माचार्य ने पूछा—"सबसे बड़ा धर्म क्या है ?" एक विद्वान् ने कहा—"अहिंसा", दूसरे ने कहा—"नहीं, सत्य उससे भी बढ़कर है, इसी से सत्य को परमेश्वर माना गया है।" तीसरे ने कहा—"इन दोनों से ऊँचा ब्रह्मचर्य है, बिना उसके कुछ भी नहीं हो सकता है।" चौथा बोला—"आप सब बेकार

की बात करते हैं। सबसे महान् धर्म तो अपरिग्रह है। अपरिग्रह का मूल अनासक्ति है और उसी में से सारे धर्म निकलते हैं।"

धर्माचार्य ने सबकी बातें सुनी। उन्होंने कहा—"बन्धुओ! सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य की अपनी-अपनी महिमा है, लेकिन सबसे बड़ा धर्म तो "आचरण" है।

लेखक ने पुस्तक में बहुत-सी उद्बोधक बातें कही हैं। पुस्तक सात्विक है और सुपाठ्य है। पढ़कर लगता है, कुछ पाया, समय व्यर्थ नहीं गया।

पुस्तक के लेख "कला कला के लिए है," इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते, बल्कि बार-बार कहते हैं कि "कला जीवन के लिए है।" पुस्तक में पाठक कला खोजेंगे, तो निराश होंगे। लेखक कवि नहीं है, जो प्राय: गगन-बिहारी होते हैं। वह व्यावहारिक है और पाठकों को शुद्ध व्यवहार की भूमिका पर खड़े करने के आकांक्षी हैं। किसी-किसी लेख में उनका उपदेशक का स्वर उभर आया है, पर उस स्वर के पीछे भी उनकी यही कामना दीख पड़ती है कि मनुष्य, समाज और राष्ट्र शुद्ध बनें, प्रबुद्ध बनें।

पुस्तक के छठे लेख के नाम पर पुस्तक का नामकरण किया गया है। उस लेख में उन्होंने धर्म और सम्प्रदाय के बीच के अन्तर को स्पष्ट किया है। वह कहते हैं,—"जब धर्म पंथ और सम्प्रदाय के रूप में उभर कर आता है, तब वह मानव-समाज के लिए विनाशकारी बन जाता है। जितने भी धर्म और सम्प्रदाय हैं, उनके प्रवर्त्तक आचार्य और भक्त लोग स्वत्व से प्रेम करने वाले होते हैं और परायों से घृणा करते हैं। ऐसे सम्प्रदाय और पंथ धर्म नहीं कहे जा सकते।"

पुस्तक की मूल भावना अच्छी है। सामान्य पाठकों के लिए उसमें बहुत कुछ पढ़ने और ग्रहण करने योग्य है। कुल मिला कर

संग्रह उपादेय है और मैं उसके लिए लेखक को बधाई देते हुए कामना करता हूं कि इस कृति को सभी वर्गों और विश्वासों के पाठक पढ़ें और इसके विचारों से लाभ लें।

—यशपाल जैन

प्रबुद्ध सर्वोदयी विचारक

एवं

सम्पादक : 'जीवन साहित्य'

७/८, दरियागंज, दिल्ली

३ जुलाई, १९७९

---

# विद्वानों एवं समाजसेवियों की दृष्टि में

[ १ ]

श्री 'उदय' जैन एक शिक्षाशास्त्री कर्मठ व्यक्ति हैं। जैन समाज की उन्नति कैसे हो ? इसकी निरन्तर चिन्ता करते हैं। उसी चिन्ता में से श्री जैन शिक्षण संघ की स्थापना निष्पन्न हुई जहां इनकी क्रियाशक्ति सफल हो रही है और दूसरा कार्य है जो उन्होंने समय-समय पर अपने विचार लेखों द्वारा जैन पत्रों में और अन्यत्र व्यक्त किये। इस दूसरे कार्य की निष्पत्ति "साम्प्रदायिकता से ऊपर उठो" यह लेख संग्रह है। इसमें श्री उदयजी द्वारा ई० सन् १६३१ से आज तक लिखित लेखों में से चुन कर कुछ लेखों का संग्रह किया गया है। यह तो सम्भव नहीं कि आज से ४५ वर्ष पूर्व लिखे गये लेखों और हाल में लिखे गये लेखों का स्तर समान हो; किन्तु एक बात निश्चित् है कि समाज में परिवर्तन लाने की भावना जो उनके विद्यार्थी जीवन में लिखे गये लेख में है, वही भावना उत्तरोत्तर बलवती बनती गई है और समाज के लिए कुछ कर जाने की भावना सक्रिय हुई। उन्होंने शिक्षण संस्थाओं की स्थापना शुरू की; यह एक समाज-परिवर्तन का उत्तम मार्ग है जो उन्होंने अपनाया।

विषयों में धर्म और दर्शन-खासकर जैन धर्म और दर्शन के सम्बन्ध में कई लेख हैं और शिक्षण के विषय में भी उनके उस क्षेत्र के अनुभव के आधार पर लिखे गये लेख हैं। जैन समाज की तत्काल में उपस्थित होने वाली समस्याएं जैसे कि सम्प्रदायों की एकता, सम्वत्सरी एकता, महावीर निर्वाण उत्सव इत्यादि के विषय में भी उनकी सुलझी हुई बुद्धि शक्ति के द्वारा उन्होंने मार्ग-दर्शन दिया है।

एक जागरुक समाज सेवक के नाते जैन समाज की साम्प्रदायिक समस्याएं सुलझाने का भी प्रयत्न उनके लेखों में देखा जाता है। यह सब समाज के उत्थान के लिए आवश्यक है। इस दृष्टि से इस लेख-संग्रह का मैं हार्दिक स्वागत करता हूँ। लेखों के चयन में थोड़ी सी सतर्कता बर्ती गई होती तो कुछ लेख जिनमें विचारों का, विषयों का पुनरावर्तन होता है, उन्हें टाला जा सकता था। फिर भी समग्र रूप से संग्रह पठनीय है, विचार और मनन के योग्य है और समाज की समस्याओं की सही समझ के लिए उपयोगी भी है।

—दलसुख मालवणिया

अहमदाबाद
२/६/१९७६

[निदेशक, लालभाई, दलपतभाई प्राच्य विद्या मन्दिर]

[ २ ]

श्री 'उदय' जैन समग्र जैन समाज में एक विचारों के ज्वालामुखी के रूप में जाने जाते हैं। उनके विचारों में वे चिनगारियां हैं, जो ज्वाला बन कर समाज में व्याप्त अज्ञान और अहंकार को, साम्प्रदायिक वैमनस्य और मिथ्याचार को भस्मसात कर देती है तथा ज्ञान, प्रेम, सौजन्य और सत्यनिष्ठा की ज्योति बनकर आलोक भी देती है। उनकी वाणी में जोश है, विचारों में तेज है और लेखनी में प्रवाह है। उनका हर वाक्य समाज की दूरावस्था के दर्द में डूबा हुआ है। हर शब्द एक चुनौती और चेतावनी जैसा है। श्री अमर भारती (मासिक-पत्रिका) में जब कभी उनके लेख प्रकाशनार्थ आते हैं तो मैं सर्वप्रथम उनको स्थल देने का प्रयत्न करता हूं।

समाज के कर्णधारों को—श्रेष्ठी वर्ग और श्रमण वर्ग को जितनी तीखी और तेज ललकार वे दे सकते हैं, जितनी गहरी झकझोर से वे उसे झंझोड़ सकते हैं, शायद कोई दूसरा व्यक्ति नहीं दे पाता।

उनकी निर्भीकता, कर्मठता और स्वार्जित-गरिमा वास्तव में ही प्रेरक और चमत्कृत कर देने वाली है।

"साम्प्रदायिकता से ऊपर उठो" में उनके विभिन्न लेखों का जो उपयोगी और जीवन्त संग्रह भाई श्री विपिन जारोली ने किया है, उसमें मेरी एक कल्पना साकार हुई है जो कुछ वर्ष पहले मेरे मन में आई और मैंने आदरणीय श्री जैन के समक्ष स्पष्ट की थी। लेखों का यह बहुआयामी संग्रह श्री जैन के अंतरंग का सम्पूर्ण छायाचित्र प्रस्तुत कर देता है। उनके सपनों को बखूबी व्यक्त कर देता है। लेखों में विषय, देश, काल की विविधता होते हुए भी विचारों की एकलक्ष्यता और सत्य की स्पष्ट घोषणा उसे बिखरने नहीं देती है।

नवयुवक विचारक जहां इन लेखों से प्रेरणा और मार्ग-दर्शन प्राप्त करेगा, वहां समाज की बुजुर्ग पीढ़ी सोचने-समझने के लिए एक नई खुराक प्राप्त करेगी। पुस्तक का अधिकाधिक प्रचार-प्रसार हो; यही मंगल कामना।

आगरा
दिनांक ६/६/१६७६

—श्रीचन्द सुराणा 'सरस'
लेखक एवं पत्रकार

[ ३ ]

पं० श्री 'उदय' जैन के विभिन्न लेखों को संकलित करके 'साम्प्रदायिकता से ऊपर उठो' पुस्तक रूप में श्री जैन शिक्षण संघ कानोड़ प्रकाशित कर रहा है, यह जानकर खुशी हुई। अपने इस लेख-संग्रह में श्री 'उदय' जैन, जैन समाज की एकता पर महत्त्वपूर्ण योगदान कर रहे हैं।

ऐसे अच्छे पुस्तक के प्रकाशन के लिये श्री जैन शिक्षण संघ कानोड़ की मैं सफलता चाहता हूं और शुभेच्छायें प्रदान करता हूं।

मैं आशा रखता हूं कि 'साम्प्रदायिकता से ऊपर उठो' पुस्तक का जैन समाज बहुत आदर करेगा।

अहमदाबाद
दिनांक ८/६/७६

—कस्तूरभाई लालभाई
अध्यक्ष अ. भारतवर्षीय भगवान् महावीर
२५वां निर्वाण महोत्सव समिति

[ ४ ]

मैं लेखक को उनके प्रयास के लिये बधाई देता हूं तथा इस पुस्तक को जीवनोपयोगी बना कर समाज की बहुत बड़ी सेवा की है। पुस्तक पठनीय और संग्रह करने योग्य भी है।

87 नोर्थ एवेन्यू, नई दिल्ली
दिनांक २०/६/७६

—अचलसिंह
संसद् सदस्य
एवं अध्यक्ष, श्वे. स्था, जैन
महासभा, दिल्ली

[ ५ ]

पं० उदयजी के लेखों का संग्रह जैन शिक्षण संघ ने प्रकाशित करने का निश्चय किया इसके लिए बधाई।

मैं लेखों को देख गया। उदयजी ने निर्भयता पूर्वक अपना व्यापक दृष्टिकोण पाठकों के सम्मुख रखा। वे साम्प्रदायिकता को समाज के लिए हानिकारक समझते हैं, इसलिए समाज को व्यापक दृष्टिकोण अपनाने को कहा है।

मैं पं० उदयजी तथा जैन शिक्षण संघ का इस उपयोगी प्रकाशन के लिए अभिनन्दन करता हूं।

पूना
दिनांक २८/५/७६

—रिषभदास रांका
महामन्त्री
भारत जैन महामंडल, बम्बई

सत्य पूर्ण भविष्य कल्पना

# युग बदल रहा है

क्या कहा ? युग बदल रहा है। युग तो प्रतिपल परिवर्तित होता आया है। एक समय जो नियंत्रित माना जाता है। वह भी परिवर्तनशील है। आज है, वह कल नहीं रहेगा। कल था, वह आज नहीं है।

वर्तमान युग के पुजारी वर्तमान की प्रशसा करते हैं, पुराने मानव, पुरातन युग को याद करते हैं। युग एक नियंत्रित काल का नाम है; जिसे विश पुरुषों ने हजारों वर्षों के दायरे में बांधा है। कहीं १२ वर्ष का युग तो कहीं ५ वर्ष का युग माना जाता है। इसका सही नाप लेखक की लेखनी या वार्ता कर्त्ता की वार्ता पर निर्भर है।

मैं युग को सौ वर्ष के दायरे में देखता हूं। जिसे शताब्दी कहते हैं। अभी भारत के विक्रम संवत्सर की २१वीं शताब्दी चल रही है। इसी शताब्दी के आरंभ से युग बदलना प्रारंभ हो गया। आज २९ वर्ष में कलयुग-राकेट युग बन गया है। वृहस्पति की यात्रा चल रही है। चन्द्र यात्रा कई बार हो चुकी है। मंगल ग्रह की ओर बढ़ना प्रारंभ हो गया है। जैसे चन्द्र तल पर मानव उतर चुके हैं, उसी तरह मंगल-ग्रह पर उतरने का प्रयास चालू है। शताब्दी के तीस वर्ष पूरे होते-होते मानव, मानवता के लिए भी आगे बढ़ेगा। इसी युग में राष्ट्र

संघ बना । विश्व धर्म-संघ की स्थापना हुई । मानव मजहबों के दायरों से निकल कर ऊपर सोचने और वर्तने लगे हैं । राष्ट्रों के दायरे से आगे बढ़ कर विश्व संघ की व्यवस्था करने में लगे हैं ।

आज विश्व छोटा हो गया है । अनंत की खोज ने हमारे विश्व को एक अण्डा मात्र रख दिया है । भूगोल और खगोल की खोज ने मानव को विज्ञान की ओर आकर्षित कर लिया है । मानव ने जीवन की खोज में जीव की उत्पत्ति और संसार की सर्जना में अणु की अन्वेषणा करली है । विज्ञान ने जहां मानव की असीम बुद्धि का पता पाया है, तो वहां उसने अणु की अनन्त शक्ति की गवेषणा कर डाली है । अणुबम की जगह उद्जन बम, अणुचलित विद्युत् भट्टी, अणुचलित शरीर के हृदयों की निर्माण योजना भी बना डाली है । इधर आध्यात्मिक शक्ति का बल भी मानवों में प्रसारित हो रहा है ।

मानव अपने आपको सृष्टि का सर्जनहार परमात्मा का अंश नहीं; अपितु स्वयिता घोषित कर रहा है । आज का मानव पृथ्वी पर शांति का आह्वान करने वाला और प्रलय का ताण्डव नृत्य करने वाला बन गया है । सभी काम यंत्रवत होने लगे हैं । यंत्र युग की पराकाष्ट अभी नहीं हुई है, अभी तो यंत्र युग का प्रारम्भ है । मंत्र युग का भी प्रारम्भ हो चला है । ईश्वरीय शक्तियाँ अपना प्रभाव बढ़ाती जा रही है ।

अर्द्ध शताब्दी के पूर्व ही भारत का आध्यात्म चिन्तन, आत्मिक ज्ञान और विश्व धर्म समन्वय का उर्ध्व गमन करता हुआ बढ़ता जायगा । विश्व की समस्याएँ समन्वय दृष्टि से सुलझाना प्रारम्भ हो गया है । मनुष्यों की समझ में आ गया है कि धर्म, स्वर्ग और नरक की वस्तु नहीं है और न स्वर्ग के सुख की कल्पना से धर्म में स्थिर होता है; अपितु धर्म से इसी विश्व पर स्वर्ग की रचना करना है । मानव

मस्तिष्क धीरे-धीरे विकसित हो रहा है। अन्ध श्रद्धा की जंजीरों से छुटकारा पाकर स्वतंत्र सम्यग्दर्शन की उपासना की ओर गतिशील है।

३० वर्ष पूर्व एक संप्रदाय दूसरी संप्रदाय को हीन दृष्टि से देखती थी। गुरुओं द्वारा सम्यक्त्व दिलाया जाता था। इसी कारण एक संप्रदाय, दूसरी सम्प्रदाय को मिथ्या और उनके अनुयायियों को मिथ्यात्वी कहते थे। एक मजहब का अनुयायी दूसरे मजहब के अनुयायी को म्लेच्छ, काफिर, मिथ्यात्वी आदि कह कर तिरस्कृत करता था। सम्प्रदायिक प्रचार में मानवों की निर्मम हत्याएं धर्म का कार्य समझी जाती थी। आज युग बदल रहा है। मानव-मानव को समझने लगा है। जाति से ऊपर उठने लगा है। ऊँच नीच का भेद भूलने लगा है। अच्छा बुरा धर्म कहना बंद करने लगा है। सभी जाति, वर्ग, देश और धर्म वाले एक साथ बैठकर अपना समन्वय मार्ग प्रशस्त करने लगे हैं।

युग बदल रहा है, युग बदल रहा है की मीठी ध्वनियाँ समवेत स्वरों में हृदय एवं श्रव्य यंत्रों के द्वारा गाई जा रही हैं। समय एक दम बदल रहा है। कल क्या होने वाला है, कोई कुछ नहीं बोल पाता। चीन और अमेरिका एक साथ बैठ स्नेह बढ़ाते हैं तो रूस और अमेरिका भी पीछे नहीं रहते। भारत-पाक सम्बन्ध भी ठीक बनने जा रहे हैं। यदि नहीं बने तो आने वाला युद्ध निर्णायक युद्ध होगा।

भारत सदा सब जातियों धर्मों तथा भाषाओं को अपनाने वाला देश रहा है। पड़ौसियों से नेह चाहता है, लेकिन पड़ौसी यदि घृणा करता है, तो वह उसका प्रतिफल अवश्य पायेगा, इसमें पूर्ण विश्वास करता है। भारत ही एक ऐसा देश है; जिसने प्राचीनकाल में आध्यात्म ज्ञान का विस्तार किया। मानवों के हित में यांत्रिक उन्नति की जगह आत्मिक उन्नति की ओर बढ़ाने का प्रयास किया। मानवों को हिल-

मिल कर रहना और जीवनयापन करना बताया। दया, करुणा, स्नेह, सहयोग और सह जीवन का मार्ग प्रशस्त किया।

समय आ रहा है। यही भारत विश्व के संपूर्ण राष्ट्रों और मानवों का कल्याण कार्य प्रारम्भ करेगा। मानव दानव बनने की ओर भी बढ़ रहा है। इसकी अंतिम यात्रा की समाप्ति अणु युद्धों पर है। अर्द्ध शताब्दी के बाद अणु का प्रयोग युद्ध के लिए नहीं; अपितु जन-कल्याण के लिए होगा। विज्ञान को आध्यात्म का जामा पहना दिया जायगा। अनन्त विश्व की खोज में पृथ्वी का मानव आगे बढ़ेगा। प्राणीवाली पृथ्वियों से अपना सम्पर्क बढ़ावेगा। अहिंसा और सत्य का प्रचार उग्रतर बनता जायगा। पाखंडी साधुओं का अन्त होगा। सच्चे साधनारत साधुओं का आविर्भाव होगा। युग बदल रहा है। प्रेम युग आयेगा। ईश्वरीय युग आयेगा। सतयुग की याद भुला देगा। सर्वोदय युग आ रहा है। कलयुग को भुला देगा।

युग बदल रहा है। शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे विश्व धर्म और विश्व संघ का मूर्त रूप पूर्ण हो जायगा। मानव शान्ति और संतोष का अनुभव करेगा। तृष्णा और अशांति का अन्त होगा। प्रेम और समन्वय के वातावरण में सभी धर्म, मजहब समाप्त हो जायेंगे। मजहबों के ठेकेदार खतम हो जायेंगे। धनवान और निर्धन का भेद मिट जायगा। ऊंच नीच का परहेज नहीं रहेगा। सभी वस्तुए सब के लिए होंगी। सभी का उपयोग और उपभोग समान स्तर पर होगा। संसार के समाजवाद, साम्यवाद, साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद दुम दबा कर भाग जायेंगे। समाजवाद का आविर्भाव होगा। समता धर्म की स्थापना होगी। समन्वय मार्ग से समस्याएं सुलझाई जायेंगी। धन का बंटवारा नहीं होगा अपितु धन सभी के पास उपलब्ध होगा। चोरियां रुकेंगी और हत्याएं कोई नहीं करेगा। अदालतें नहीं होंगी। कारागृह नहीं रहेंगे। कानून नाम की चिड़िया चीं-चीं नहीं करेगी।

प्रजा को चूसने वाला कोई नहीं रहेगा। रहेंगे सभी विवेकशील मानव और मानवों के हित के लिए धर्म, राष्ट्र, भाषा, साधन और साधनों का उपयोग।

इक्कीसवीं शताब्दी युग परिवर्तन की शताब्दी है। अतः प्रतिदिन युग बदल रहा है। समाज बदल रहा है। धर्म बदल रहा है। वर्ण बदल रहा है। मस्तिष्क बदल रहा है। राष्ट्र बदल रहा है। विश्व बदल रहा है। विश्व का क्रम बदल रहा है। अनन्त विश्व का परिक्रमण बदल रहा है। इसीलिए मैं कहता हूं—युग बदल रहा है और शीघ्र बदल रहा है। ईश्वरीय युग आ रहा है। सर्वोदय युग आ रहा है।

सर्वे सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग भवेत्॥

जैन प्रकाश ६ अक्टूबर, १९७२ ई०
**श्री अमर भारती**

मुक्त चिन्तन

# सर्वोदयी समाज की एक नई कल्पना और सूझ

आज की दुनिया, अपने काल्पनिक सुख और सुख-सामग्री की होड़ में और राष्ट्रों के विस्तार करने में प्रगति कर रही है। एक ओर मानव, मानव को ईर्षा की दृष्टि से देखता है और उससे आगे बढ़ना चाहता है, तो दूसरी ओर भूख जगी है समान स्तर पर आने की, समाजवाद लाने की और समान-साधन पाने की।

आज का मानव दिनों दिन समझ रहा है कि अब मेरा समाज मात्र मेरा कुटुम्ब नहीं, गाँव नहीं, प्रान्त नहीं और देश नहीं—मेरा समाज सम्पूर्ण पृथ्वी के साथ है। मानव समझ रहा है कि एक पृथ्वी पिण्ड के साथ ही मेरा सम्बन्ध नहीं, अपितु असंख्य पिण्डों के साथ मेरा सम्बन्ध होने वाला है। पृथ्वी मात्र ही विश्व नहीं, अपितु असंख्य ब्रह्माण्ड विश्व हैं। पृथ्वी पर रहने वाले मानव ही मानव नहीं, अपितु असंख्य पिण्डों पर रहने वाले जीव भी मेरे साथी हैं।

मानव परस्पर शांति और व्यवस्था के व्यवहार को पसन्द करता आ रहा है, और धर्म का अनुसरण भी अब इसी ओर हो रहा है किन्तु हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई और बौद्ध आदि की फिरकापरस्ती ने धर्म के दायरे को संकुचित कर दिया है। आपस में धर्म और प्रेम के

विस्तार के बदले द्वेष, लड़ाई-झगड़े बढ़ाये हैं। सहयोग की जगह असहयोग का वातावरण बनाया है। सहअस्तित्व को न पाकर अपने-अपनों का अस्तित्व जुटाया है। जो जिस मजहब का अनुयायी होता है, उसी की देखभाल और सुख-सुविधा का खयाल रखता है। मानव धर्म के टुकड़े-टुकड़े हो गए हैं। कोई अपने को हिन्दू कहता है तो कोई मुसलमान, कोई क्रिश्चियन तो कोई बौद्ध। इनमें भी छोटी-छोटी कई सम्प्रदायें हैं। इस तरह इतने सारे बाड़ों में मानव जैसा विकसित बुद्धि का प्राणी फँसा हुआ है। इन बाड़ों के आगे उसकी गति नहीं दिखती। इन बाड़ा-बन्दी में ही वह ईश्वर ढूंढता है। स्वर्ग और मोक्ष देखता है। ये मजहब के प्रचारक एक दूसरे से घृणित व्यवहार करते नहीं चूकते। बड़े से बड़े सिद्धान्त तात्विक, तार्किक और वैज्ञानिक भी इन बाड़ाबन्दियों में फँसे हुए हैं, लेकिन उनकी बुद्धि अब इन बाड़ाबन्दियों को तोड़ कर अखण्ड मानव समाज, अखण्ड मानव-धर्म और अखण्ड मानव-राष्ट्र बनाने की कल्पना करने लगी है।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे पहुंचे हुए मानव भी हैं, जो मानव समाज को मानते हुए भी इससे बढ़ कर निकट संपर्क में आने वाले जलचर, थलचर और खेचर प्राणियों के साथ भी सहयोग करना चाहते है और अपनी मैत्री बढ़ाना चाहते हैं। कुछ ऐसे भी मानव हैं, जो जीवत्व वाले सभी तत्वों और उनके क्रियाशील रूपों तथा आकृतियों का भी संगठन करना चाहते हैं। उनके साथ भी मैत्री और सहकार का हाथ बढ़ाना चाहते हैं। वे ऐसा समाज देखना चाहते हैं जिसमें तमाम जीवत्व समा जाय।

गरीब से गरीब और मूर्ख से मूर्ख के दिमाग में भी यह आ गया है कि दुनिया की उपलब्ध जितनी वस्तुएं हैं, सबके लिए समान उपयोगी हैं। सबको उपयोग करने का अधिकार है। कुछ अधिक संग्रह करता और कुछ साधनहीन क्यों रहे ? धरती, धन और साधनों का

बंटवारा होना चाहिए। इसी विचार चिनगारी में से भविष्य में एक महान् शक्ति का उदय होगा। वही शक्ति सारे मानव-विश्व को ही नहीं, अपितु संपूर्ण समाज की ओर अनन्त विश्वों के प्राणी समुदायों को भी निकट ला रखेगी। आपस में सहकार और प्रेम का महा मंत्र व्यवहार में आयेगा। विश्व के उपलब्ध उपयोगी भाग में सबका समान अधिकार होगा। सारे जीवत्व एक विराट्, अखण्ड और शाश्वत् रूप धारण कर लेंगे। ऐसे सर्वोदयी समाज की कल्पना इस प्रकार की जा सकती है—

## सर्वोदयी समाज

**परिभाषा :**

हम जगत् के चर-अचर सभी प्राणी जगत् का एक समाज स्वीकार करते हैं। प्राणवान जितने पदार्थ या रूप अथवा आकृतियां हैं, उन सबका जीवत्व एक रूप है, अखण्ड है, अविनाशी है, शाश्वत् है, संताप रहित आनन्दी है, अनन्त वीर्य और अनन्त प्रवाह वाला है। अतः हमारा समाज संपूर्ण लोकों के प्राणियों का समाज गिना जायगा। हम सबका उदय चाहते है। चाहे वह पृथ्वी, अग्नि, जल, हवामय हो; चाहे वह मानव जैसा उन्नत प्राणी हो। हम सबको जीते हुए उन्नत दशा में देखना चाहते है, अतः **हम सर्वोदयी हैं और हमारा समाज सर्वोदयी समाज है।**

**मंत्र**

**सर्वे सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः।**<br>**सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःख भाग भवेत्॥**

**इष्ट :**

हमारा इष्ट ॐकार है। हम हमारा और संसार का पूर्ण बोध कराने वाले ॐ शब्द को अपना देव मानते हैं। यही हमारा अनादि देव

है, जो अदृश्य रूप से सारे लोकों में गतिमान है। जो ब्रह्मा, विष्णु, महेश अथवा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप में सबसे वर्तमान है। वही सत् है। वही ॐ है। वही प्रणव शक्ति है और वही पूर्ण है। उसी का अस्तित्व था, है और रहेगा। अतः वही हमारा इष्ट है।

## मंत्र

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय, पूर्णमेवावशिष्यते॥

**उद्देश्य :**

(१) प्राणि मात्र के एक जगत् की स्थापना करना।

(२) सम्पूर्ण प्राणि जगत् की पूर्ण उन्नति करना और उन्नति मे सहयोग करना।

(क) प्रथम चरण में बिना धर्म जाति व देश-भेद के अखण्ड मानव समाज की स्थापना करना, मानव धर्म और मानव राष्ट्र का निर्माण करना और तीनों के प्रयत्न मे पूर्ण योग देना।

(ख) द्वितीय चरण में मानव जाति के इर्द-गिर्द जो अन्य जलचर नभ-चर और थलचर प्राणि समाज है, उनके साथ संपर्क स्थापित करना और उनकी उन्नति में पूर्ण योग देना।

(ग) तृतीय चरण में शेष सभी चर और अचर प्राणि-समाज को अपनी समाज का अंग समझ कर उसकी उन्नति में योग देना।

(३) सभी प्राणियों में ज्ञान और क्रिया का पूर्ण विकास कर अनेकान्त एवं सहकार धर्म का प्रसार करना।

(४) जिस तत्व से हम भिन्न बन कर संसार का दृश्य दिखा रहे हैं, उसी तत्व में मिल जाने का प्रयत्न करना।

**कार्य :**

(१) दुनिया की जितनी भी प्राणि-समाज की जातियां हैं, उनके साथ अपना-सा व्यवहार करने वाले मानवों का संगठन करना और उनके समाज की रचना करना।

(२) ऐसे मानव समाज द्वारा दुनिया के धर्मों और राष्ट्रों तथा जातियों में जो भिन्नता फैली हुई है और अपनी जाति, अपने धर्म और अपने राष्ट्र प्रेम को प्रधानता देकर दूसरों के साथ घृणा और असहयोग का मार्ग अपना रखा है; उसे सहयोग मार्ग में परिणत करने के लिए अनेकान्त और समन्वय मार्ग से और प्रेम तथा सहकार धर्म के प्रचार से सर्वोदय सिद्धान्त को व्यवहार में लाना।

(३) सभी धर्म प्रचारकों, राष्ट्र-नायकों और समाज-संचालकों के संघ या सम्मेलन स्थापित कर, एकता बढ़ाना। परस्पर के सहयोग से ही हम सबकी उन्नति कर सकते हैं और सबकी उन्नति में हमारी उन्नति है—का बोध देना।

(४) विश्व मानव संघ, विश्व राष्ट्र संघ और विश्व धर्म संघ का निर्माण करना। ऐसे संघ वर्तमान हैं, तो उन्हें गति देना।

(५) मानव राष्ट्र, मानव धर्म और मानव जाति के निर्माण के उद्देश्य पूर्ति के बाद अन्य प्राणियों के संगठन की ओर बढ़ना।

(६) जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं से मानव समाज के प्रत्येक वर्ग का सदस्य संपन्न हो, इस प्रकार पूर्ण व्यवस्था करना और कोई सदस्य कभी दुःखी न हो—इसकी देख-भाल रखना।

(७) सब प्राणियों में मैत्री एवं सहकार भाव बढ़ाने वाली अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शील और निर्ग्रन्थपने की वृत्तियों को आचरण

में लाना। क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायों को नष्ट करना। अनर्थ दन्ड का त्याग, समता का नियमन और अतिथि का स्वागत करना। इस लोक और परलोक के सुख की कामना से रहित बन कर, साधनों का कभी संग्रह नहीं करना। उपभोग साधन समान भाग से वितरित कर जीवन यापन करना।

(८) पृथ्वी पिण्डों के अलावा अन्य पिण्डों के अपने तत्व वाले साथियों को अपना मानना और उसके साथ संपर्क स्थापित करने में पूर्ण योग देना।

(९) सच्चिदानन्दमय परमतत्व को पाकर उसी में समा जाना, तत्वमय हो जाना। तत्वमसि में लय हो जाना। अजीव तत्व से छुटकारा पाकर मुक्त बन जाना।

(१०) जो अपनी परम्परा के अनुयायी हैं, उनमें भी उपर्युक्त कार्यों की गति रहे; इस तरह का संबोधन, अन्तिम जीवन क्षण में अनुयायियों को देना और उन्हें कर्त्तव्य के प्रति संकेत करना।

**कार्यकर्ता :**

(१) **परम साधक:**—जो राग-द्वेष को जीत कर तथा अन्तर के क्रोधादि दुश्मनों और बाहर के सकल जगत् के हृदयों को जीत कर अरिहंत और अरहंत बन जाते हैं, जो अपने परम तत्व को पा जाते हैं और जिनका संपूर्ण लोक का प्राणी-समाज अपना बन जाता है। प्राणी-समाज के साथ की यह पूर्ण अभिन्नता सहज्योति का प्रकाश करती है। ऐसी ज्योति वाला हमारा परम साधक है। वह सबका नायक है, हमारा दिव्य पुरुष है, वही हमारा प्रधान कार्य-कर्ता है।

(२) **सफल साधक:**—जो कभी प्राणी-समाज के बीच कार्य करता रहा है और साधना में सफल होकर तत्व में समा गया, सच्चिदानन्दमय बन गया, वह सफल साधक है।

(३) साधक शासकः—जो सर्वोदयी समाज को गतिमान करता है और उसके कार्यकर्ताओं की डोर अपने हाथों में रख कर उन्हें प्रेरणा देता है, जो सच्ची आध्यात्मिक वृत्ति वाले प्राणी समाज का सदस्य बन चुका है।

(४) साधक शिक्षकः—जो सर्वोदयी समाज में हमारे कार्यों की शिक्षा मानव-समाज और प्राणी-समाज को देकर योग्य कार्यकर्ता बनाता है, जो प्राणी-समाज को भले-बुरे का ज्ञान देकर सर्वोदय की संजीवनी शक्ति को गति देने वाले साधक तैयार करता है, वह सहकार धर्म का पोषक साधक-शिक्षक होता है।

(५) साधकः—जो निरन्तर अपने प्राणी–समाज की संघ रचना और उसके औचित्य को स्वीकार कर गति देता है, उसकी रक्षा करता है, उसका प्रचार करता है; जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शील एवं अभयता का सेवन करता है, सारी दुनिया की शान्ति व्यवस्था में अपनी शक्ति के अनुसार पूर्ण बल देता है, अनेकान्त और समन्वय का प्रचार करता हुआ सहअस्तित्व के सिद्धान्त को अपनाता हुआ जगत् के प्राणियों का पूर्ण उदय करने में योग देता है, वह साधक है।

—जिनवाणी

जैन प्रकाश : १५–८–७०

# संस्कृति का अर्थ

संस्कृति सभ्यता का मूल है । वह एक ऐसी बन्धनात्मक कृति है जिसके द्वारा जीवन के प्रवाह को उत्कीर्ण या प्रकीर्ण किया जा सकता है । सभ्यता पार्थिव रूप है और संस्कृति आत्मरूप मानसिक आधार है ।

संस्कृति की व्युत्पत्ति सं + कृति से हुई है । सं से सम्यक् या समान प्रकार की कृति अर्थात् क्रिया रूप में व्यवहृत प्रवृत्ति को संस्कृति कहते हैं । तात्पर्य यह, जो प्रवृत्ति समाज में समान रूप से व्यवहृत है, उसे ही संस्कृति कहते हैं । दूसरे शब्दों में प्रत्येक प्राणी वर्ग की सामूहिक कृति का ही नाम संस्कृति है । इसीलिए उसे संस्कारों की सृजनहारी माता भी कहा जाता है । संस्कृति प्राणियों के आचार, व्यवहार और जीवन-यापन की एकता का ही दूसरा नाम है । हर प्राणी का जीवन-यापन का अपना निजी ढंग होता है और साथ ही हर ससंज्ञक प्राणी समाज में एकत्र होकर रहना, निभना और सामाजिक बन्धनों के अनुकूल चलना पसन्द करता है । अतएव जब प्राणी, अपने समाज में संगठित या एकत्र होकर रहता है, तो उसे जीवन-यापन के अपने निजी ढंग को सामूहिक ढंग में परिवर्तित करना पड़ता है । अपनी तरह दूसरों को समझकर उदारभाव प्रकट करने पड़ते हैं और इस तरह की निबहने की जो प्रवृत्ति है—वही संस्कृति कहलाती है ।

प्रत्येक प्राणी-समाज के जीवन-यापन के नियम या तरीके होते हैं, जिन्हें वह समान रूप से निभाने की कोशिश करता है । समय, क्षेत्र

और परिस्थितियों के अनुसार उनमें भिन्नता आ जाती है और वे विभिन्न संस्कृतियों का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार से क्षेत्र की अपेक्षा से संस्कृति की भिन्नता विश्व-व्याप्त है। क्षेत्र की अनुकूलता और प्रतिकूलता के आधार पर एक संस्कृति, एक क्षेत्र के लिये अनुकूल असर करती है और दूसरे के लिए वह प्रतिकूल प्रभाव उत्पन्न करती है। मानव मति की भिन्नता की दृष्टि से भी समाज की भिन्नता और समाज की भिन्नता से संस्कृति का विभेद अपने आप प्रकट हो जाता है। इसीलिए भारतीय संस्कृति, यवन संस्कृति, आंग्ल संस्कृति, ब्राह्मण संस्कृति, श्रमण संस्कृति आदि क्षेत्रीय, वर्गीय और वर्णित आधार पर बहुत से भेद बनते चले जाते हैं, परन्तु इन विभिन्नताओं के बावजूद भी कई समान प्रवृत्तियाँ, कृतियाँ और अनुरक्तियाँ भी होती हैं, जो अन्ततः विशाल प्राणी समाज की संस्कृति का रूप ग्रहण करती हैं।

मानव उन्नत और विकसित मानस वाला प्राणी है। वह व्यक्त, अव्यक्त और अतिव्यक्त प्रकार के आविष्कारों का निर्माता है। आविष्कारों के साथ समय और परिस्थितियों के अनुरूप अभिनव संस्कार पनपते हैं और पुरातन नष्ट होते जाते हैं। उनमें से जिन संस्कारों को समाज का विशिष्ट वर्ग प्रचलित करता है या कायम रखता है वे संस्कार भी मूर्तरूप में एक होकर संस्कृति का आकार ग्रहण करते हैं।

विशेष बुद्धिशील प्राणी होने के कारण मानव समाज के भाव, साहित्य का रूप ग्रहण करते हैं, परन्तु साधारण पशु, पक्षी आदि प्राणियों का भी मूक साहित्य होता अवश्य है, जो व्यवहार रूप में व्यक्त होता है। यद्यपि वे उन्हें लेख बद्ध नहीं कर सकते, लेकिन अपने समाज में उनका संचार-प्रचार, व्यवस्थापन एवं अभिनन्दन बराबर करते रहते हैं। वे भी सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् के उपासक हैं। अतः उनको भी आमोद, प्रमोद और विनोद प्रिय है। मानवेतर प्राणियों का गहरा अध्ययन करने वालों ने इस तथ्य के भीतरी रूप को खोजा

है। वे मानवेत्तर प्राणियों और मानव संस्कृति में बहुत साम्यता का अनुभव करते हैं। सामूहिक जीवन के निर्वाह के मूल स्रोत संस्कार कहलाते हैं और उनकी सुव्यवस्थित कृतियाँ समान रूप से अनुभूत होने वाली सत्यम्, शिवम् सुन्दरम् की प्रवृत्ति की एकता भी संस्कृति है।

इस प्रकार संस्कृति भावात्मक एकता का मूल स्रोत भी है। वह अनेक रूप होते हुए भी मूल में एक है। समाज में शान्ति और व्यवस्था सभी को अभीष्ट है और शान्ति की अनुभूति आनन्द के रसानुभव के व्यक्त रूप विश्व के सभी वर्गों में करीब-करीब समान है। साधनों की भिन्नता और प्रयोगों की भिन्नता अनिवार्यतः होती ही है, पर मानव एकता का मूल आधार संस्कृति के वृहद् रूप में मिल ही जाता है।

इस प्रकार सस्कृति सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की आधार शिला है। प्राणी या मानव संस्कृति के द्वारा आमोद, प्रमोद और विनोद का प्रेय और शान्ति, व्यवस्था तथा मुक्ति का श्रेय ग्रहण करते हैं।

वस्तुतः अनुरक्ति और मुक्ति दोनों ही संस्कृति की देन हैं। भोग और त्याग एक दूसरे के पूरक हैं। भोग के बाद त्याग आवश्यक है। इसी तरह अनुरक्ति के बाद मुक्ति आवश्यक है। जीवन श्रेयस्कर-संस्कृति मुक्ति को प्रदान करती है। कर्मों का आत्मा से दूर होना ही मुक्ति है। सच्चिदानन्द की अभिव्यक्ति ही मानव की परिष्कृत संस्कृति है। इसी अर्थ में संस्कृति पूर्ण शाश्वत और हितकारी है। संस्कृति भुक्ति और मुक्ति दोनों के लिए आवश्यक है। संस्कृति का सही अर्थ-सार्थक्य (सार्थकता) मुक्ति में है।

—आलोक वार्षिकी

—वसुमति मासिक

# आज की आग्रहवृत्ति को खुली चुनौती

मैंने देखा, सोचा और समझा। जितना श्रेयस्कर निर्ग्रन्थ धर्म है, उतना ही यह ग्रन्थी अनुयायियों से आबद्ध है। इतना आग्रह और इतना अहं; वीर-शासन के प्रवर्तकों में वर्तमान है कि २५००वां निर्वाण वर्ष और उसकी महिमा, प्रदर्शनों में दबती जा रही है। सभी सम्प्रदायों के अग्रणी आचार्य, प्रवर्तक और नेता, वीर के नाम पर त्याग नहीं कर सकते हैं। विचारों में अनेकान्तता भी नहीं ला सकते हैं। आचार और प्रचार में अनेकान्तता है ही नहीं। किसी को पचाने की हिम्मत ही नहीं। जिन परिस्थितियों और संस्कारों ने जिसको बनाया उसे वही सत्य और तथ्य दृष्टिगोचर हो रहे हैं। सम्यग्ज्ञान की उपलब्धि दूर रही, सामान्य व्यवहारिकता भी नहीं है।

जो एक संवत्सरी नहीं मना सकते और जो वीर शासन की विशालता को एकता में नहीं ला सकते; वे वीरानुयायी हैं ही नहीं। यह निश्चित भाषा आग्रह नहीं बताती; लेकिन आग्रह के कपाट खोलती है।

है कोई माई का लाल! जो इन मान के हाथी आचार्यों, प्रवर्तकों और नेताओं को महावीर का अनेकान्त मार्ग बतावे और बता कर चलावे। इन्होंने एक सर्कल बना रखा है—धनिकों के द्रव्य से यश

श्रौर मान का विस्तार करना। बदले में धनिकों को संघ नेता बनाकर स्वर्ग के स्वप्न दिखाना। यही परिधि श्रनेक घेरों-संप्रदायों को जीवित रख रही है।

कहते हैं—अपनेआपको अकिंचन-अपरिग्रही, लेकिन इनके भक्तों का जितना परिग्रह है, सब इन्हीं के इशारों पर नाचता है। स्वयं सेठ बने हुए हैं। मुनीम रूपी सेठ श्रावकों को धन सभला रखा है। अतः ये संघ का श्रेय नहीं कर सकते। कहने को मात्र त्यागी हैं।

महावीर को देखा किसने? अच्छा कर गये तो उनके नाम की दुकानें चला ही रहे हैं। जय बोल ही रहे हैं। उनकी वाणी सुना ही रहे हैं। उनके अनेक रूपों में संघ चला ही रहे हैं। हमको कोसते क्यों? हमने कौन-सा महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी को मनाने का ठेका ले रखा है? ठेका लें भी तो कुछ कमाने के लिए ही तो लेंगे। सारे संसार का विसर्जन तो कर दिया, अब तो संग्रह करने दो, यह आज के प्रायः सभी श्रमणों एव अग्र नेताओं की भाव-भाषा बोल रही है। यदि ऐसा नहीं है तो एकता बनाने और मताग्रह छोड़ने में इनको क्या जोर पड़ रहा है? गाँठ की कौनसी पूंजी खर्च करनी पड़ रही है। अपने जीवन व्यवहार का सारा बोझ समाज पर डाल रखा है और संघ को विशृंखलित कर अपना यश विस्तार का बोझ भी समाज पर, यह कितनी विडम्बना है?

इन संप्रदायवादियों ने २५००वीं निर्वाण शताब्दी की महासभा में भी घेरे डाल रखे हैं। इन बड़े घेरों में भी एकता के खुले विचार उसके प्रकाशन में छप नहीं सकते। कई संप्रदाय के मासिक प्रकाशन तो ऐसे विचार छापने से कतराते हैं। इतनी व्यापक सांप्रदायिकता यदि जैन धर्म में पनपा रहे हैं तो सिर्फ साधु समाज के अग्र नेता ही पनपा रहे हैं। मुझे ऐसा मालूम होता है कि इन सभी

आचार्यों और प्रवर्तकों ने मुक्ति के ठेके भी इसीलिए ले रखे हैं कि कहीं इनके अनुयायी इनके घेरे से बाहर न निकल जायं ?

दुःख तो इस बात का है कि जो जिस संप्रदाय का विद्वान् है, वह उसी की बात कहता है। अनेकान्तता बघारता है; लेकिन उसका व्यवहार नहीं करता। यदि विद्वान् और सुधरे वीर-शासन प्रिय सज्जन भी अपना संगठन बनाकर इन धर्म ध्वजियों के पास जा-जा कर नम्र-निवेदनों से बाँग देते रहें, तो मुझे विश्वास है कि एक दिन इन सबकी आँखें अवश्य खुलेंगी और सही जैन धर्म को समझ लेंगे।

वीर का धर्म शाश्वत है। वह प्रत्येक क्षेत्र, धर्म, वर्ग एवं वर्ण की जीवात्मा में वर्तमान है। उसे विकसित और प्रसारित करना है। इस २५००वें निर्वाण वर्ष में यदि हम महावीर के अनुयायी कहलाने वाले सभी जीवात्माओं और विशेषकर विश्व मानव समाज में यदि इसके अनेकान्त रूप को नहीं रख सके तो मैं समझूंगा यह सारे दिखावे मात्र अपने नाम कमाने और प्रशस्ति प्राप्त करने के लिए ही किये जा रहे हैं।

इस निर्वाण वर्ष में ढेरों प्रकाशन हो रहे हैं और सिर्फ अपने-अपने दायरे में प्रशस्ति पा रहे हैं। मैं आज के अनुभूत वीरानुयायियों को आह्वान करता हूं कि आप सब मिलकर पार्थिव शरीर और मस्तिष्क का इस निर्वाण वर्ष की सफलता के लिए उपयोग करें। जहां कहीं ऐसे विचार वाले बंधु इकट्ठा होना चाहें और कार्य करना चाहें तो सर्व प्रथम मैं अपने आपको इस जागरण कार्य में समर्पण करता हूं। वह दिन धन्य है, जिस दिन हम विश्व में रम जावें, हम और हमारा धर्म विश्व के कण-कण में प्रसर जावे, साम्प्रदायिक संकीर्ण दायरे समाप्त हो जावें और अखंड विश्व धर्म बन जावे तथा हम सबके और सब हमारे बन जावें।

मैं उन सभी विद्वानों, विचारकों, समाज सुधारकों एवं धर्म प्रचारकों को आमंत्रित करता हूँ कि यदि आप उपरोक्त विचारों के समर्थक हैं, तो शीघ्र मुझे अपनी स्वीकृति लिख भेजें। ऐसे साथियों का मैं एक संघ बनाना चाहता हूँ और चाहता हूँ कि इन सभी साथियों के पार्थिव शरीरों का धर्म प्रसार हित सही उपयोग हो सके।

— जैन प्रकाश
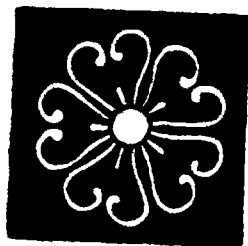
# भागो नहीं, पकड़ो !

गृहस्थाश्रमी लोग अपने आपको साधुओं की अपेक्षा हीन समझते हैं और उनकी दृष्टि साधुओं की उच्चत्व की तरफ जमी रहती है। कारण, भारतीय साधु सदा से उपदेश देते आ रहे हैं कि 'वैराग्यमेवाभयम्'—संसार में जितने भी व्रत हैं, सब भयप्रद हैं, एक वैराग्य ही अभय है। संसार यातनाओं से भरा हुआ है, जंजाल है, दुःख का सागर है, जलता हुआ अंगारा है, उलझते हुए कांटों की झाड़ी है आदि अनेक प्रकार से हीन तथा हेय बताते आये हैं। साधु वही कहलाते हैं, जो संसार, गृहस्थाश्रम को छोड़ भागें। संसार से भाग जाने को साधु कहते हैं।

भाग जाने वाला डरपोक-भीरू होता है, यह सिद्धांत महात्मा गांधी ने निकाला। संसार में रहकर सब कुछ किया जा सकता है। "भागो नहीं, पकड़ो" का उपदेश दिया। अहिंसा सत्यादि व्यवहार संसार के धरातल पर उतारे। गृहस्थ, साधु बनने की अपेक्षा अपने आपको, समाज को तथा विश्व को बनाने में कल्याण मानने लगे। संसार छोड़ कर भाग जाने का अर्थ—"मूंड मुंडाय भये संन्यासी" किसी भी संप्रदाय की दीक्षा को धारण कर लेना है। इस भारत में सैंकड़ों संप्रदायें हैं और वे सभी आलसी लोगों के मठ हैं। ये लोग खा-पीकर गृहस्थों पर शासन करते हैं, मौज-मजे उड़ाते हैं। भगवान् के भक्त कहलाते हुए, भगवान् के तद्रूप मानवों के खून को पी जाते हैं। मानवों को छल, छिद्र एवं धींगामस्ती से डराते, धमकाते और उनसे

खूब छक होकर छानते हैं, खाते-पीते, पहनते और अच्छे मकानों में रहते हैं। संड-मुसंड या मुस्तंडे बनकर संसार के व्यवस्थित व्यवहार को बिगाड़ते हैं।

समय था, कुछ अच्छे आत्मान्वेषकों ने संसार से अलग होकर गवेषणा-पूर्वक आत्मा की, परमेश्वर की, विधि और विधान की खोजें की। उनका समय सदा अन्वेषणों में लगा रहता था। अब आत्मवादियों का समय टंटे-फिसाद कराने में, साम्प्रदायिक मठों को चलाने में और गुल-गप्पे उड़ाने में पूरा होता है। आत्मा की गवेषणा करने वाला अन्वेषक अब ढूंढने पर भी नहीं मिलता। अभी का वैराग्यमय साधुओं का वर्ग, निरा पाखंडियों का समूह मात्र है। मुफ्त का माल उड़ाना, धर्म के नाम पर अपनी पूजा कराना, यही मात्र उनका काम रह गया है।

विरक्त कहलाने वाली संप्रदायों के आचार्य और साधु गृहस्थों से भी बढ़ कर संपत्ति और ऐश्वर्य को धारण किये हुए हैं। एक नहीं अनेक प्रकार के भोगों को भोगते हुए भी वे अपने संप्रदाय के गादीधर होने के कारण पूज्य माने जा रहे हैं। गृहस्थ वर्ग अंध-विश्वासों से अपने बाप-दादाओं द्वारा मानी हुई सम्प्रदायों को महत्त्व देता आ रहा है। कई प्रबुद्धजन भी उनके शिकंजों में फंसे हुए दिखाई देते हैं। संसार के कृत्य तो समझ में आ सकते हैं लेकिन इन विरक्तों के समाज के संसार को समझना बड़ा मुश्किल है। ये लोग सदा गृहस्थ कर्मों से गृहस्थों को छुड़ा कर, अपने बाड़े में फँसाते रहते हैं। आज मुक्ति के नाम पर ईश-दर्शन के लुभावने हथियारों से और अनन्त आनन्द की प्राप्ति के अदृष्ट लाभों से साधारण और पढ़े हुए समाज के भावुक लोगों को आकर्षित कर निठल्ले समाज का वृद्धिकरण किया जा रहा है। यही एक बड़ा आश्चर्य है कि गृहस्थ समाज भी ऐसे मानव समूहों को मान्यता देता हुआ अपने को धन्य मान रहा है।

जितने भी प्रचारक और जगत् के उद्धारक हुए उन्होंने मानव

के भले के लिये दो मार्ग उद्घाटित किये—साधु और गृहस्थ। वे साधुओं को प्रचारक बनाकर सद्गृहस्थों का सुधार करने का कार्य करते थे। उनका उपदेश वास्तविक था उन्हें समाज से मानवों को भगा कर ले जाना नहीं था। लेकिन अब उनके पट्टधर सदा अपनी जमात बढ़ाते रहने के लिए—संसार से भागो और हमारे में आ मिलो, यह उपदेश प्रचारित करते आ रहे हैं।

संसार से विराग को ही संसार से भागो अर्थ में लिया जाता है। भूल गये हैं कि राजा जनक गृहस्थ होते हुए भी विरक्त थे। संसार में शांति और व्यवस्था के पुजारी जितने भी मानव हैं, वे सभी धार्मिक और विरक्त हैं। लेकिन दुनियादारी से ऊबकर जाने वाले संसार का सीधा माल उड़ाने वाले धूतारें हैं। अतः मैं कहता हूँ—"भागो नहीं, पकड़ो।"

संसार से मत भागो, अपने चलते हुए जीवन से मत ऊबो, लेकिन जीवन को पकड़ो उसे सुधारो, उन्नत बनाओ। समाज को पकड़ो। समाज को उन्नत, सुसंस्कृत और आनन्दमय बनाओ। व्यवस्था और शांति कायम रखने के लिए सदैव मानव जीवन गृहस्थ वर्गीय अनुभवों को पकड़ो और उस निठल्ले साधु एवं विरक्त वर्ग को, जो समाज पर भार भूत बना हुआ है उसे पकड़ो और अपने पास में झकड़ो। झकड़ कर उससे पूरा काम लो। वह अपने कार्यों को सुव्यवस्थित करने में पूरा योग दें, तो उनकी पालना करो अन्यथा उन्हें मुफ्त खाना खिलाना, पहिनाना और रहने के लिए मकान देना बंद करो।

ये संड-मुस्तंड अपना माल खाते हैं और आपस में हमें ही लड़ाते हैं। धर्म के नाम पर मानवों की होली करते हैं। इन लोगों ने क्रिश्चयन, इस्लाम, बौद्ध, हिन्दू और न मालूम किस-किस धर्म का नाम धराकर, उसके प्रचारक, गुरु, पादरी, मुल्ला आदि बनकर मानवों के

हित की न सोच कर मानवों और मानव समाजों को टुकड़ों में बांट दिया है। धर्म के नाम पर टुकड़े सदा गृहस्थ जीवन में विषमता पैदा कर रहे हैं। गृहस्थों में ऐसे भाव भर देते हैं कि उनके बनाये हुए मार्ग ही ईश्वर के मार्ग हैं, दूसरे संप्रदाय के मार्ग भयंकर यातनायें देने वाले हैं। सबने अपने ठेके ले रखे हैं। उन ठेकों के ठेकेदार, सदा अपनी बड़ाई और दूसरों की निन्दा कर, अपनी जमात बढ़ाने में लगे हैं। आये दिन ये जमात के मालिक साधु, विरक्त, पादरी, मुल्ला, मौलवी, परिव्राजक कहलाने वाले, नृशंस कार्य करते नहीं हिचकते। धर्म के नाम पर व्यभिचार, हिंसा, पाखंड और अत्याचार करते हुए नहीं शरमाते। अंत में मैं बार-बार कहता हूँ कि इस दुनिया से दूर ले जाने वाले भगोड़ों के कहने से मत भागो और अपने दुनिया के शील, सत्य, प्रेम और सहयोग के हथियारों से अपने समाज, अखंड मानव समाज को शांति और व्यवस्था के मार्ग पर बढ़ाओ। यही मुक्ति है। यही ईश-दर्शन है। यही आत्मान्वेषण है। आत्मा सभी की एक है। आत्मा में ही परमात्मा है। बाहर कहीं पर भी पृथक् अस्तित्व नहीं है। जितने भी प्राणी हैं सभी में ईशत्व है, उसे पकड़ो, उसे बनाओ, चमकाओ और आनन्दित करो।

(वसुमति मासिक से साभार)

# साम्प्रदायिकता से ऊपर उठो

आज हर धर्म और पंथ का प्रवर्तक या आचार्य यही आवाज देता है कि सांप्रदायिकता से ऊपर उठो—यह समय की पुकार है। आज का युग विज्ञान का, विज्ञान से बढ़कर समन्वय सिद्धान्त-प्रचार का, अनेकान्त सिद्धान्त को व्यापक रूप देने का है। असंख्य पृथ्वी पिण्डों के ज्ञान से आज का मानव अभिज्ञात है। आज का मानव विश्व शान्ति चाहता है, विश्व धर्म चाहता है और विश्व राष्ट्र चाहता है।

**सम्प्रदाय की आराधना भयंकर भूल :**

क्या ऐसे समय में हम अपनी ढपली बजाते हुए, अपनी-अपनी बाड़ाबन्दी को मजबूत बनाने का कार्य करेंगे? यह ' उल्टे बांस बरेली" वाली कहावत चरितार्थ करता है। आज का युग एकदम बदल रहा है। विश्व-तनाव कम होता जा रहा है। अणु अस्त्रों वाले देश भी युद्ध मे कतरा रहे है। आपस मे बैठकर समन्वय से सामन्जस्य का प्रादुर्भाव कर रहे हैं। युग सौजन्यता का परिचय देकर सहकार की ओर बढ़ रहा है। ऐसे समय में यदि कोई सम्प्रदाय का आचार्य या प्रवर्तक अपनी सम्प्रदाय की आराधना करने में समय की उपयुक्तता मानता है, तो वह भयंकर भूल करता है।

एक सम्प्रदाय-प्रचारक दूसरे सम्प्रदाय का अस्तित्व पसन्द नहीं करता। उसके विरुद्ध अपनी सभी प्रकार की प्रचार-सामग्री जुटाकर, उसको दबाना या नष्ट करना चाहता है और स्वयं के सम्प्रदाय का

विस्तार करना चाहता है। इस क्रिया से स्वभावत: हृदय की सरलता नष्ट हो जाती है, कटुता बढ़ती है और द्वेषमय वातावरण बन जाता है। साम्प्रदायिक भावना की तीव्रता से मानव-मानव की हत्या जैसा नृशंस कार्य भी कर बैठता है। एक सम्प्रदाय वाला अपने आचार्य में निष्ठा रखता हुआ, दूसरे धर्म की निन्दा करता है। आचार्य के बताये हुए मार्ग को सम्यक्त्व का सोपान कहता है और अन्य के पथ को मिथ्यात्व का पोषक घोषित करता है। स्वय को सम्यक्त्वी तथा अन्य को मिथ्यात्वी कहता है। इतना ही नही; एक साधु वर्ग दूसरे साधु वर्ग को और एक श्रावक वर्ग दूसरे श्रावक वर्ग को भी हीन दृष्टि से देखता है। इस तरह के घृणित प्रचार से धर्म की जगह अधर्म, पुण्य की जगह पाप तथा अहिंसा की जगह हिंसा को स्थान मिल जाता है।

## प्रवर्तकों की मान-पूजा के अखाड़े :

वह धर्म किस काम का—जिस धर्म से शान्ति न मिले और परस्पर का प्रेम नष्ट हो जाय। क्लेश, ईर्ष्या, दभ, पाखण्ड और हिंसा की प्रवृत्तिया फैले, वह धर्म कैसे हो सकता है। धर्म सदा सबसे मिलकर रहना सिखाता है। धर्म आत्मा मे शान्ति पैदा करता है, कषायों को नष्ट करता है। धर्म शान्ति और व्यवस्था फैलाता है। **जब धर्म, पंथ और सम्प्रदाय के रूप में उभर कर आता है, तब वह मानव समाज के लिए विनाशकारी बन जाता है। जितनी भी सम्प्रदायें हैं और जितने भी पंथ हैं, उनके प्रवर्तक आचार्य एवं भक्त लोग स्वत्व से प्रेम करने वाले होते हैं और परायों से घृणा करने वाले होते हैं।** ऐसी सम्प्रदाये और पथ, धर्म नही कहे जा सकते है। **वे तो उन प्रवर्तकों की मान-पूजा के अखाड़े ही कहे जायेंगे** और उनके भक्त अन्धश्रद्धाशील बनकर इस जन्म और परजन्म को भी नष्ट कर डालेगे। कुछ अखाड़े वाले तो इतने होशियार हो गये हैं कि अपनी बाडाबन्दी को तो मजबूत बनाते हैं और दुनिया मे अनेकान्त, समन्वय और विश्व-धर्म सम्मेलन के मार्ग

में बढ़ने की बातें करते हैं। वैसे ही भाषण देते हैं। वैसा ही साहित्य प्रचार करते हैं। उन्हें भूल नहीं जाना चाहिये कि ऊपर के दिखावे कभी भी सत्य बनकर नहीं आ सकते। दुनिया समझती जा रही है और चतुर गुरुजी को भी भांपती जा रही है। जब वह साहस के साथ सन्मुख आकर सच्चे हृदय से साम्प्रदायिकता का व्यामोह छोड़ेंगे, तब ही विश्वसनीय माने जाएँगे।

## खरीदी हुई प्रशंसा :

जैन धर्म को विश्व-धर्म कहने वाले और विश्व में जैन धर्म का प्रचार-प्रसार करने वाले उपदेशक और लेखक अपने से पूछें कि क्या उन्होंने साम्प्रदायिकता की संकीर्णता का त्याग कर दिया है? क्या अपनी रूढ़ मान्यताएं छोड़ दी हैं? दुनिया सब समझती है। जिनके साधु और प्रवर्तक निष्परिग्रह, अपरिग्रह या संयत परिग्रह का उपदेश दे देकर थक गये, उन्हीं के प्रमुख श्रावक काला बाजारी और टैक्स चोरी से धनार्जन करें। उनका उपदेश विश्व में क्या असर पैदा कर सकता है? दुनिया के दिखावे के लिए कुछ पैसों से खरीद कर या मान देकर अन्य मतावलंबियों से अपने मंच पर प्रशंसा करा लें या पुस्तकों, ग्रन्थों तथा पत्रिकाओं में ऐसा साहित्य छपवा दें। इससे जैन-धर्म विश्व-धर्म नहीं बन सकेगा।

## केवल नारे ही नारे :

दिगम्बर अपने-अपने ढंग को लिये २५००वीं महावीर जयन्ती मना रहे हैं तो श्वेताम्बर मूर्ति पूजक अपनी-अपनी बातें रखाकर जयन्ती के कार्यक्रम बना रहे हैं। स्थानकवासी अपना पृथक कार्यक्रम बनावें या न बनावें। भारत जैन महा मण्डल सबको लेकर चलना चाह रहा है। लेकिन सब अपनी-अपनी मान्यताएं ज्यों की त्यों रखकर चलना ही पसन्द करते हैं। सब की सर्वमान्य एक रूपरेखा नहीं बन

पाती, न ही सबका सर्वमान्य एक स्वरूप ही बन पाता है। यह सब साम्प्रदायिकता का व्यामोह नहीं तो और क्या है ? क्या जैन धर्म का यही सम्प्रदायमयी आदर्श, विश्व के सामने प्रसारित करना चाहते हैं ? हम दिगम्बरत्व, या श्वेताम्बरत्व, सचेलकत्व या अचेलकत्व तथा अन्य स्त्री मुक्ति आदि के विभिन्न विचार, भिन्नता के पंथ समन्वय से एक रूपता नहीं पा सकते। यदि जैन धर्म की विभिन्न सम्प्रदायें अपना व्यामोह नहीं छोड़ेंगी तो विश्व-धर्म के नारे, नारे ही रह जायेंगे।

## अहं का पोषण :

आचार्यों और प्रवर्तकों तथा समाज के अग्रनेताओं को इस स्थिति पर सोचना है। २५वीं सदी के जयन्ती महोत्सव को निरा प्रदर्शन मात्र करना है, तो अवश्य करिये; लेकिन धनपतियों के धन और राष्ट्र के राजकीय पैसे का निरर्थक व्यय, धर्म प्रचार के नाम से क्यों करा रहे हैं ? क्या विद्वान्, आचार्य, प्रवर्तक और नेता अपने-अपने नाम के प्रचार-प्रसार के लिए, तो यह सब प्रोपेगेण्डा नहीं करा रहे हैं ? क्या अहं का पोषण कर धर्म का पाखण्ड तो नहीं फैला रहे है ?

## सम्यकत्व के आइने में अपने को देखें :

मैं उद्घोष करता हूं—जनता सदा गतानुगति की लकीर पर चलने वाली है। आपकी भक्त है, धर्म के प्रति और महावीर के प्रति श्रद्धा से नत है। उसको अपने अहं के प्रचार में गुमराह मत कीजिये। "साम्प्रदायिकता से ऊपर उठो।" अपनी-अपनी मान्यता का मोह छोड़ो। अपनी सम्प्रदाय की परिपाटियों, समाचारियों का व्यामोह दूर करो और सभी जैनियों की सर्वमान्य समाचारी एवं धर्म नियम बनाओ और उन्हीं का विश्व में प्रचार करो। ये अहमन्य पण्डित और धर्म विपरीत धन संग्रह वाले धनिक एक बार अपनी श्रद्धा शुद्ध करें।

सम्यक्त्व के आइने में अपने को देखें और साम्प्रदायिक वृत्ति से ऊपर उठकर, विश्व-धर्म बनाने का प्रयास करें। महावीर की याद का यही सही मार्ग है।

जैन प्रकाश—८ जनवरी, १६७३
श्री अमर भारती—मार्च, १६७३
सुधर्मा—
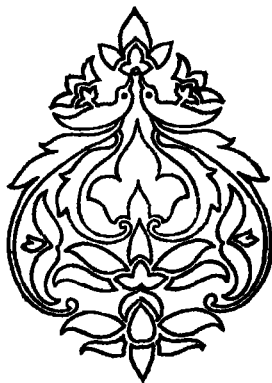
# विचार, आचार और प्रचार

आत्मा जब अपने उत्कर्ष की ओर बढ़ना चाहता है तो उन्नत विचारों का उद्भव होता है, और विचारों की क्रियान्वयन शक्ति ही आचार के दायरे में आती है। आचार के बाद प्रचार कार्य ठोस और जगत् के उद्धार के लिए विशेष कामयाब होता है। यह तो रही आत्मा की ओर गति करने वाले मुमुक्ष जन की बात। लेकिन विश्व में सभी मोक्षार्थी नहीं होते। इस दुनिया मे जो जिस किसी भी प्रकार आचरण कर जीना चाहते है और वैसे ही विचार रखते हैं। विचार के अनुसार ही प्रचार होता आया है, अतः प्रचार भी उनकी चाह के अनुसार होता रहता है।

अब हमें यह देखना है कि जगत् की शांति और व्यवस्था के लिए कैसा रुख अपनाया जावे। विश्व के प्राणी मात्र सुख पूर्वक जीना चाहते हैं, अतः उन्हें शांति और व्यवस्था प्यारी है। हमारा कर्तव्य है कि हम इसी के अनुकूल अपने विचार बनावें और आचरण करें तथा प्रचार-प्रसार करें। यही एक सही मार्ग की कसौटी है। इससे आत्मार्थी जिसे हम किसी दृष्टि से स्वार्थी-अपना भला करने वाला कहते हैं वह भी मुकर नहीं सकता।

स्वयं का भला तभी हो सकता है, जब दूसरों के साथ भला व्यवहार करें। अपनी आत्मा का भला चाहने वाला, जगत् की शांति का परम इच्छुक होगा। अतः हमें यह मालूम हो गया कि जगत् के प्रायः

सभी प्राणी इसी विचार को पसन्द करते हैं। इस विचार की पसंदगी के बाद आचार का नम्बर आता है। वह इसी प्रकार का सदाचार करे, जो सभी के लिए हितकर हो। सबको सुखद हो। इसे शिष्टाचार भी कह सकते हैं। आचार का सही रूप सदाचार है। सदाचार ही धर्म का सही रूप है। सही आचरण धर्म है।

अहिंसा, संयम और त्याग (तप) ये सदाचार के पाये हैं। इन्हीं में पांच व्रतों का समावेश हो जाता है। जगत् के सभी सदाचार इन्हीं के अंग हैं। जगत् से प्रेम, अपनी सीमित जीवन-चर्या और अन्य प्रलोभनों का त्याग विचार और आचार के मूल स्तंभ हैं। प्रेम जहां है, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का त्याग आ ही जाता है। सीमित जीवन जहां है, वहां क्रोध, मान, माया और लोभ पनप नहीं पाते। तप जहां है, वहां अज्ञान, अदर्शन, बंध और अन्तराय के बादल नहीं टिक सकते। तीनों का जहां वास होता है, दिव्यता आ उतरती है। दिव्यता को मानव क्या, अमर भी नमन करता है। अत. जिसके प्रति प्राज्ञ पुरुष आकर्षित होता है— वह चिन्मय अवस्था इन तीनों आचारों से प्राप्त हो जाती है। जहां चिन्मय प्रकाश फैलता जाता है, अंधकार हटता जाता है और सत्य ज्ञान का प्रचार होता जाता है। प्रचार का यही सही रूप है। प्रचार करना और वस्तु है और प्रचार हो जाना और ही चीज है।

प्रेम आचरण है। प्रचार सहकार है। विचार दोनों का उद्भव स्थान है। तीनों का सम्मिश्रण ही आत्मा की और जगत् की उन्नति का माप दंड है। जितने ऊंचे विचार और आचार होंगे, प्रचार भी वैसा ही होगा। उतनी हद तक वैसी ही उन्नति होगी। आत्मा की उन्नति के लिए प्रेम का आचरण करें और प्रचार का सहकार प्राप्त करें। यह आवश्यक है—विचार बिना आचार और प्रचार असंभव है। यदि बिना विचार के आचार और प्रचार किया गया तो निष्फल होता है।

प्रेम और सहकार धर्म के मूल पाये हैं। प्रेम आत्मा से पैदा होता है और सहकार से विचार, आचार और प्रचार बढ़ता-फलता और फूलता है। सही माने में आचार की प्रशस्ति में प्रचार का सहकार आवश्यक है। सत्य, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और संग्रह नियमन या विसर्जन ये प्रेम के रूप हैं। इनके आचरण से प्रेम की वृद्धि होती है और मानव अजात शत्रु, वीतराग, तथा परमात्मा बन जाता है। उत्तम विचारों से प्रेम की प्राप्ति होती है और प्रेममय बन जाने पर प्रेम का विस्तार करने से विश्व शांति और व्यवस्था की वृद्धि होती है। विस्तार करने का अर्थ प्रचार से है। अतएव आत्मिक उन्नति-चिन्मय बन जाने की स्थिति और विश्व शांति के लिए उत्तम विचार, आचार और प्रचार की परम आवश्यकता है।

सुधर्मा (पाक्षिक)
१५, फरवरी, १९७२

# मानसिक-त्रुटि

जब मनुष्य कर्तव्य क्षेत्र में उतरता है तब उसकी गति दो प्रकार की होती हैं—(१) मन के अनुकूल और (२) प्रतिकूल। दोनों अवस्थाओं में शक्ति की आवश्यकता होती है। प्रथम अवस्था संसार विजयनी होती है, यदि विजेता अपने निश्चय पर दृढ़ रहे। द्वितीय अवस्था सामाजिक, धार्मिक या राष्ट्रीय डर से कर्तव्य भूमि में लाने वाली होती है।

आजकल मन के अनुकूल कार्य करने वाले थोड़े हैं, जो अपना सर्वस्व देकर भी औरों की भलाई चाहते हों। लेकिन द्वितीय अवस्था का आदर बहुत है। यदि किसी मनुष्य को धन का लालच देकर, डर बताकर या कीर्तिचक्र में फंसाकर कार्य सौंपा जाय तो वह तुरंत करने को उद्यत हो जाता है। किसी की सेवा या सहयोग प्रसन्नचित्त हो करने वाले विरले होते हैं। मुझे खेद है कि आज-कल हमारी संस्थाएं इसी ओर झुक रही हैं, जिससे सामाजिक और धार्मिक दबाव या डरसे अथवा लालच से कार्य करने वाले व्यक्तियों की भरमार है। भला, ऐसे लोगों से कभी सुधार की आशा रखी जा सकती है? जिन लोगों से समाज डरपोक बने, जिनसे समाज हीन अवस्था को प्राप्त हो, जिनके कारण समाज के छोटे-छोटे बालचरों पर बुरा प्रभाव पड़े, जिनसे समाज क्षुद्र स्वार्थों की रण-भूमि बने, जिनसे समाज दूसरों का मुंह ताका करे

श्रौर हो सके तो विधर्मी बने श्रौर जिनके सहयोग से अकर्मण्यता का पाठ सिखाया जाय, उनसे सच्चे कल्याण की आशा कैसे की जा सकती है ?

जरा विचार तो करिये, वे क्या कभी किसी समाज को सुधार सकते हैं ? यदि नहीं, तो उन्हें यह अधिकार नहीं कि वे सामाजिक त्रुटियां ही निकालने बैठें। उन्हें चाहिए कि इन बातों पर विचार करें, उचित उपाय सोचें श्रौर सोचकर सहयोग दें, न कि सामाजिक श्रापत्तियों से डरें। प्रतिद्वन्द्विता के समय निर्णय करें कि कौन सत् श्रौर कौन असत् है। यदि निर्णय नहीं कर सकें, तो वह मानसिक त्रुटि ही समझी जायगी। भला, ऐसी परिस्थिति खड़ी होने पर अपना कर्तव्य छोड़ देना कितना हीन काम है ? इससे कभी उन्नति नही हो सकती। यदि उन्नति चाहते हैं, तो ध्यान दें—खयाल करें श्रौर सोचें कि मैं कौन हूं, किस रास्ते पर हूं ? क्या ध्येय है ? कितना चला हूं श्रौर कितना बाकी है ?

मनुष्य अनेक विकट उलझनों में जा गिरता है, पर यदि वह उस वक्त निराश हो जाय, तो फिर सर्वत्र अन्धकार ही समझिये। जब आत्मा श्रौर दुष्कर्मों में प्रतिद्वन्द्विता पूर्ण युद्ध होता है, तब यदि फिसलें तो नीचे मिथ्यात्व रूप कूप श्रौर बढ़ें तो सम्यकत्व रूप सुलभ मोक्ष-मार्ग है। ठीक यही दशा वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक श्रौर राष्ट्रीय कार्यों में होती है। इन अवस्थाओं को जीतने वाले विजयी होते हैं।

समाजोन्नति की आकांक्षा वाले बहुत हैं, फिर भी सहयोग देने वाले बहुत थोड़े हैं। सहयोग देना तो दूर रहा, कार्यकर्ताओं की हँसी उड़ाना श्रौर त्रुटियां निकालना ही वे अपना प्रथम कर्तव्य समझते हैं। ऐसी ही अवस्था में उनका समाजोन्नति की आशा करना, यह कहां तक ठीक है ?

एक संस्था दूसरी संस्था को नीचा दिखाना चाहती है श्रौर इसी कारण से दोषावलोकन करने को उद्यत रहती है। फिर बताइये कि

उनके दिल में समाज सम्बन्धी क्या शुभ भाव उत्पन्न हो सकते हैं ? आकाक्षाएं तो पहाड़ जैसी बड़ी, पर कार्य करते समय हिचकना, उपालम्भ या कष्ट आने पर विचलित हो जाना या पूर्णतया कार्य को छोड़ देना, यही क्या समाजोन्नति के साधन हैं ?

हम उन श्री वर्द्धमान के पुत्र हैं, जो इस अनन्त जगत् में अनेक भयंकर से भयंकर आपत्तियों का सामना करते हुए **विश्व विजय और कर्म-विजयी** बने हैं। अब हम उनके पुत्र दब्बु से बन कर रहते हैं। यही क्या हमको उचित है ? **यदि आप ऐसे ही रहना चाहते हैं, तो फिर महावीरोपासक नहीं कहे जा सकेंगे।** वीर पुत्र तो उनके सदृश्य कार्य करने वाले ही होते हैं। फिसलने वाले नहीं; कहने पर प्रगति करने वाले होते हैं।

भाइयो ! **हम जिनोपासक जैन कहलाते हैं, पर जरासी आपत्ति से डर जाते हैं, क्या यही जैनत्व की निशानी है ?** जिनावस्था को धारण करना क्या साधारण काम है ? खैर, अभी हम में उतना पुरुषार्थ नहीं, पर संस्था संभालने के लिये यदि आप अपने को योग्य समझते हैं, तो फिर कार्य से पीछे क्यों हटते हैं ? दूसरे के कार्य को नष्ट क्यों करना चाहते हैं ? दूसरे की उन्नति पर क्यों ईर्ष्या करते हैं और त्रुटि पर क्यों उपालम्भ देते हैं ? सहयोग क्यों नहीं देते हैं ? क्या यही आपको उचित है ?

आर्य पुत्रो ! यदि स्वयं कार्य करने की शक्ति नहीं रखते हो, तो आदर्शानुकरण ही करो। आज संसार क्या चाहता है ? प्रेम। तो आप फूट देवी का क्यों स्वागत करते हैं ? क्षमा और धैर्य क्यों छोड़ बैठे हैं ? यदि आपको कुछ कार्य करना है, समाज के लाड़ले बच्चों को सुधारना है और जैन धर्म को विश्व में विजयी बनाना है, तो सहन शक्ति के साथ अपने को सुधारें और कार्य में प्रगति करें। यही मानसिक त्रुटि को मिटाने का मूल मन्त्र है।

मनुष्य संसार में उत्पन्न हो अकाण्ड ताण्डव रचते हैं—किसी को सच्चा, तो किसी को झूठा बना देते हैं। कोई जाल फैला रहा है, तो कोई रुपया लुटा रहा है। कोई किसी को मार रहा है, तो कोई किसी की रक्षा कर रहा है आदि अनेक कार्य प्रतिदिन होते दिखाई देते हैं; पर ये सब एक सुख के पीछे ही हो रहे हैं। जब मनुष्य सांसारिक पीड़ाओं से विकल हो जाता है तब वह या तो संसार से चल बसने की कोशिश करता है या साधु बनकर शान्ति मार्गावलम्बन करता है। सब कार्य करते हैं अच्छे के लिए, पर हो जाते हैं, बुरे। कारण यही है कि हम अर्थ और काम में ही सुख मान बैठे हैं और रातदिन उसी के पीछे दौड़ा करते हैं। जब इच्छा सफल नहीं होती है, तब दुःखी होते है। यही तो मानसिक त्रुटि है, भूल है और कमजोरी है। यदि ध्यान रखकर कार्य करें, तो कभी ऐसा मौका नहीं आ सकता, पर यह सोचे कौन ?

इसीसे आपको स्पष्ट हो गया कि मानसिक त्रुटि ही सबमें विघ्न पैदा करती है; अतः इससे जल्दी दूर होने का प्रयत्न करें और दृढ़ भावना हृदय में धरें। फिर देखें कि कैसे कार्य सफल नहीं होते हैं।

जैन प्रकाश
२२ नवम्बर, १९३१
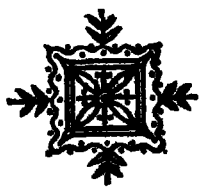
# कर्मण्येवाधिकारस्तु

'कर, कर कुछ कर', यह आवाज—यह ध्वनि मानव हृदय के नवोल्लास के साथ उद्भवित होती है। मानव करता है, कुछ करता है और सब कुछ करता है, लेकिन करना क्या है ? यह उसको पता नहीं पड़ता है। पता पड़ भी जाय तो स्वेच्छया नहीं अपितु किसी लालसा के अभिभूत हो करने में श्रेय मानता है। उसका परिणाम श्रेयस्कर हुआ तो सुखद बन जाता है और विपरीत हो गया तो दुःख का सागर उमड़ आता है। इस तरह मानव स्वेच्छा से स्वान्तः सुखी बनने में सफल नहीं होता।

कर्म करने में कर्मचारी तीन अवस्थाओं में गतिमान होता है, प्रारम्भ, मध्य और अंत। कर्म का प्रारम्भ उत्साहवश हो गया हो तो मध्य की बाधा उसे निराश कर देती है और अंत में सफल और विफल की अन्त्येष्ठि पर उसे स्वत्वाश्रय लेना पड़ता है। प्रारम्भ यदि सुखमय होता है, तो मध्य विपत्तियों का घर बन जाता है। कसौटी का समय मध्य काल है, उससे बढ़ने पर सफलता या विफलता का निर्णय प्राप्त करता है।

मानव, जब से पैदा होता है, तब से कुछ न कुछ करता ही रहता है। आलसी भी कुछ करता है, पुरुषार्थी भी कुछ करता है। कोई बिना किये जीवित नहीं रह सकता। अतएव करना सभी को आवश्यक है और करना ही पड़ता है।

करने के लिए उद्यत प्राणी को चार बातों का खयाल करना आवश्यक है :—देश, काल, द्रव्य और भाव।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—ये शब्द जैनी साधु के मुंह पर जमे हुए हैं और वे इसके अनुकूल करते हैं या नहीं, यही सोचना हमें निराशा में डुबोता है।

'करना है' कितना आकर्षक शब्द है। करने वाला प्रिय बन जाता है। यह भी जानते हैं कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से किया हुआ ही सफलता की तराजू में तुलता है। आज मानव समाज को किसकी जरूरत है और हम क्या कर रहे हैं? इतनी सी बुद्धि हमें प्राप्त हो जाय, तो हम कुछ कर सकते है।

आज हमारा समाज धन और धनिकों से आप्लावित है, लेकिन अकर्म रोग से पीड़ित है। 'कुछ करना'—कोई करना नहीं है। 'करना है'—यह कर्म कहलाता है। समाज मे अकर्मण्यता का पाठ बढ़ता जा रहा है। व्यापार की गति मद पड़ रही हैं और साधुओं की विरागता की गति भी रुद्ध हो गई है। साधु अपनी क्रियाशीलता का प्रयोग मान और प्रदर्शन के लिये करते हैं, अतएव थोथे भाषण और प्रदर्शन बढ़ते जा रहे हैं। नवयुवक इन भड़कीले कार्यों से प्रथम आकर्षित हो जाते है, लेकिन बाद में असरहीन प्रभावहीन और कांतिहीन बन जाते हैं।

उपदेश सूत्रों से भरे हैं। भगवान् ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव देखकर प्रवृत्ति करने का आदेश दिया है। श्रावक व साधु, श्राविका और साध्वियां, सभी उसी प्रकार प्रवृत्ति करते हुए अपने को सिद्ध कर रहे हैं। सभी प्रवृत्तिकारक अंग अपने को ठीक रास्ते पर मान रहे हैं। अतएव कर्मण्यता का अजीर्ण होना, समाज अपने मुख से नहीं कहती लेकिन मेरी मान्यता और समाज का दीर्घ अनुभव है कि समाज की अकर्मण्यता का अजीर्ण हो चुका है। अकर्मण्य तो समाज

न कभी बना है न कभी बनेगा। कर्म कर रहा है। लेकिन वे सभी देश कालानुसार हैं या नहीं? इसकी परख किये बिना हो रहे हैं। अतएव उन्नति की दौड़ में मानव समाज के सामने मुंह की खा रहे हैं।

मानव समाज सभी युगों में सम्मिलित रूप से कोई भूल नहीं करता, लेकिन उसका अंग भूल कर बैठता है; उसका असर मानव समाज पर पड़े बिना नहीं रहता।

जन से जैन बनने वाले मानव, मानवों से देव तुल्य बने हुए मान रहे हैं, लेकिन मैं स्पष्टत. लिखता हूं कि जन की कर्त्तव्यपरायणता को भूल कर जैन कैसे बन सकता है? मानव के कर्त्तव्य से च्युत जैन नामधारी, मानव भी नहीं कहा जा सकता है।

जो जैन कालाबाजारी, रिश्वतखोरी, धरोहर दबाने की क्रिया, चौर्य कर्म, धर्म कार्यों के या सामाजिक कार्यों के हिसाबों में धोखेजनी के कार्य करते हैं वर-कन्या विक्रय और साधुता के नाम पर ठगाई चलाते हैं वे कर्म करते हुए कामयाब नहीं बनते। वे अच्छे कार्यों के रक्षक नहीं, अपितु भक्षक बनने में सहयोगी बनते हैं।

'कर्मण्येवाधिकारस्तु' यह सूत्र गीता का है। 'समयं गोयम मा पमायए' यह सूत्र जैन ग्रन्थ का है। कार्य करते रहना अपने अधिकार में है और समय मात्र भी हे गोतम! प्रमाद मत कर—यह इन दोनो सूत्रों का अर्थ है। दोनों समय-समय पर उद्‌बोधन के लिए कहे गये हैं। कर्म करने वाले कर्मवीरों को कहे गये हैं। आज हम कर्मशील बनने का दावा करते हैं और फल की वांछा साथ ही ले दौड़ते है, अतएव निराश हो जाते हैं।

हमें उपदेश है कि तू सत्य बोल, सदाचारी बन, मनुष्यों को ही नहीं सभी प्राणियों को सुख देने वाला व्यवहार कर!

उपदेश है और उपदेश कानों पर पड़ता है, लेकिन ऐसा करने से क्या होगा ? हमे क्या मिलेगा ? आदि प्रश्नों ने हमें कर्मण्य बनने से दूर कर दिया है ।

आज का वातावरण—दुनिया मे ज्यों त्यों कर पैसा कमा और मौज कर का उपदेश व्यवहृत हो रहा है । उपदेश और लेख सुन्दर होते है लेकिन कार्य स्वार्थमय लोलुपता से भरे है । ऊपर से रंगे सियार का 'सेवा और त्याग' मोटो लगा रखा है ।

कमा खाने और दुनिया को लूटने के लिये ये बाने बड़े सुलभ हो गये है । ये ही कर्म बन गये है ।

कर्म का पाठ उड गया, कुकर्म का पाठ पढ़ाया जा रहा है । मानवो की दया करने वाला मानव लाखो मे एक दिखता है । उसे ये वाक्य सुमधुर लगते है—तू तेरा कार्य करता रह दुनिया किधर भी बदले और फल कुछ भी मिले । ऐसे कर्मवीर दुनिया के भले के लिये सर्वस्व बलिदान करते है ।

आज का कर्मचारी, आज का पदाधिकारी, आज का कृषक, आज का परिश्रमी और आज का साधक वर्ग ढोंग और पाखण्ड से जिसे प्रदर्शन कह सकते है, ठगाई का प्रचार कर रहा है । सभी अपने स्वार्थों की आग मे झुलस रहे है, न स्वतः आनन्द पा सकते है न दूसरो को आराम देते है । कभी सेठ मिल बन्द करता है, तो कभी मजदूर स्ट्राइक करता है । कभी कर्मचारी रिश्वत लेता है, तो कभी कृषक अपना अनाज छिपा कर दुनिया को भूखों मारता है । साधक वर्ग आत्म भान को भूल, रस लुब्ध बनता है और पदाधिकारी पथभ्रष्ट बन कर इनाम, भेंट, पद लोलुपता की बक्षीसें स्वीकारता है । यह है इस दुनिया का रग ।

कर्म करने मे सभी निपुण है, नेता और जनता दोनों सावधान

हैं। नेता का चक्कर चलता है, तो जनता का सुदर्शन चक्र चालू हो जाता है। अखाड़ा बड़ा विचित्र है और इस अखाड़े का नियन्ता विशिष्ठ पुरुष नहीं होने से अशांति का दावानल दुनिया में प्रसर रहा है।

भारत दुनिया का गुरु, शांति का देव, आज संप्रदाय, पार्टी और स्वार्थ के पीछे आजादी की बरबादी कर रहा है। क्या कभी उस कर्मवीर कृष्ण का उपदेश कानों में पड़ेगा और फलेच्छा के बिना संसार का भला करने वाला—जैन महात्मा, त्यागी, सत और सच्चा नेता प्रकट होगा? और पृथ्वी में सत् कर्म का प्रचार करेगा?

—जैन प्रकाश, १२ जुलाई, १६५१ ई०
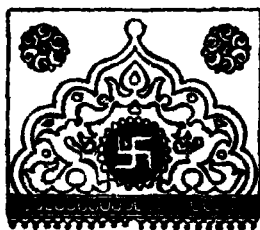
# उत्कर्ष या उत्सर्ग

संसार का वह प्रबल बल कहाँ लुप्त हुआ, जिसने एक बार ही नहीं वरन् अनंत बार प्रेम-प्रवाह द्वारा अपने अकाट्य अहिंसा सिद्धांत को विश्व व्यापी बनाया ? वह शक्ति कहाँ विलीन हुई, जो घट-घट में समानता की, एकता की, उदार भावना की स्रोत बहाती थी ? वह ऐश्वर्य कहाँ चला गया, जिसके प्रभाव से हमारा यह देश हरा भरा और धन-धान्य निष्पन्न, गोकुल-वृन्द पोषक था तथा व्यापार आदि की दृष्टियों मे ससार का गुरु माना जाता था ? यह राज्य कहाँ गया, जिसमे राम-राज्य की प्रबल सत्ता थी, राजा-प्रजा का पवित्र प्रेम था, समान दृष्टि और शिष्टता पूर्ण व्यवहार-नीति कुशल था तथा पार-लौकिक सुखों का आह्वान करता था ? वह तेज किस प्रवाह में बह गया, जिसका भारत-भूमि का एक-एक कण तपश्चर्याधारक तपस्वियों के स्वेद (पसीने) से भीगा हुआ है—अत्युत्कट मार्गावलम्बन से आध्यात्मिक ज्ञान का पवित्र-स्रोत संसार में बहा था और उस पवित्रात्म-तेज की कातिमय अनंत वीर्य निष्पन्न स्थिति को देखने के लिये सारा जगत् तत्पर था ? उस निगण्ठ-धम्म के शांति-साम्राज्य को कौन हड़प गया, जिसने कि माया रूपी राक्षसिनी की गरदन पर अपना झंडा फहरा कर संसार से ममत्व का राज्य नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था तथा जिसके पवित्र-शांति-रस सनित नियमों से बदनीतियां, बितण्डावाद तथा गुण्डाशाही राज्य तृप्त होकर पलने के लिये खूंटे बंध गये थे ? वह साधुता कहाँ गई, जिसे कल्याण करने का एक मात्र

सुलभ उपाय बताया जाता था, जिसके सन्मुख दुष्ट नर-देव तथा शिष्ट नर-देव सिर झुकाने में अपना गौरव समझते थे ?

अरे ! वह दीव्य-आत्म-तेज !! किधर प्रयाण कर गया कि जिसके प्रभाव से यह नभ-मंडल देव-देवियों का घर सा बन गया था, विचित्र समवसरण जैसी रचना द्वारा जगद् भ्रम-भेदक ज्योति का प्रचार करता था ? अहो ! वह अगाध सागर का जहाज कहाँ डूब गया, जिसके सहारे भव्य जीव संसार-समुद्र से तिरते थे ? और वह सघ बल कहाँ भाग गया, कहाँ हवा हुआ, जिसके प्रभाव से इस जैन धर्म की ऐक्य सरणि का कोई भी अनादर नहीं कर पाता था। सर्वत्र इसी की धाक थी—इसी की सत्ता थी? अरे ! वही-वही श्रेष्ठ बल जब से हम से बिछुड़ गया तभी से जैनी नाम मात्र के साधुता पोषक बन कर संसार में अपने उस आदर्श की कल्पना तक नहीं कर सके। मान-पूजा और ईर्षा द्वेष तथा ममत्व की दुर्भावना-पोषक यह बिखरा हुआ संघ-बल इस संसार की अशांति को दूर करने की हौंस तो भर ही नहीं सकता, लेकिन अपने घर की शांति को भी दिनों दिन खोता हुआ स्वत्व से गिर रहा है।

ऐ जैन समाज का पवित्र अंश ! तू कहाँ विश्राम कर रहा है ? किसी गुहा में छिपा है या किसी निर्जन वन में भटक रहा है ? आज तेरे बिना यह जैन समाज "थोथा चना बाजे घना" की लोकोक्ति के वितण्डावाद तथा अल्पज्ञता के कारण बकवादपूर्ण सहयुद्ध-गृहयुद्ध कर रहा है।

सत्व ! आज तेरी चाह है, मांग है, पूछ है। सर्व सामग्रियाँ जुटाकर यह समझदार दूरदर्शी जिन-समुदाय तेरे स्वागतार्थ तैयारियाँ कर रहा है। यदि तू इनके इस विष भरे क्षेत्र में पदार्पण कर शांति रस सिंचन करदे, तो तीनों लोकों में तेरे लिये और भी प्रत्युपकार की

भावना की वृद्धि होगी। तेरे आने से ही यह अशजिन-समुदाय अपने स्वत्व की रक्षा करने में तत्पर हो सकेगा।

ऐ जिन-समाज के जवाबदार जैनियो! क्या आप इस उन्नत युग में युग धर्मों की गिनती से भी जैन धर्म को वंचित करने जा रहे हो? अरे! आपका वह संघ बल कहां चला गया? जिसके सहारे जैन धर्म का झंडा सारे विश्व में फहराने लायक बन सकता है। आपकी क्या चाह है? उत्कर्ष की या उत्सर्ग की? मालूम होता है आपको इन दोनों से निराला अपकर्ष ही भाता है। तभी तो संघ बल की सत्ता में वृद्धि करने से डरते हैं। अहो! उत्कर्ष की चाह है, तो फिर उत्सर्ग क्यों नहीं करते। अरे, इस फूट और अनेक्यमय ममता को क्यों दूर नहीं करते? जब तक आप शरीर के व्यापारों को छोड़कर शरीर से माया वृद्धि दूर नहीं कर लेंगे, तब तक ध्यान ध्या नहीं सकते। तो फिर इस समाजोत्कर्ष में भी अपने शरीर और शरीर से अत्यन्त निकट ममत्व धर्म को (पंथ और सम्प्रदाय प्रवृत्ति को) या यों कहो कि मान पूजा सम्बन्धी व्यर्थ के दुर्भावों को क्यों नहीं छोड़ते? और श्रेष्ठ संघ बल की क्यों श्री वृद्धि नहीं करते? एक राज्य को प्राप्त करने के लिये असंख्य शरीरों का उत्सर्ग करना पड़ता है, तो क्या महावीर के उस पवित्र संघ साम्राज्य की भी वृद्धि करने के लिये सिर्फ अपने गन्दे और थोथे विचारों का उत्सर्ग नहीं करेंगे? नहीं, नहीं; कभी नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। भला, जिनत्व का रक्त बिल्कुल नष्ट थोड़े ही हो गया है? इसीलिये तो बार-बार फौजदार (सेनापति) अपने सैनिकों को रणभेदी की आवाज के साथ पुकारता है कि उत्कर्ष चाहते हो तो उत्सर्ग की परवाह मत करो, शरीर राष्ट्र का है और राष्ट्र तुम्हारा है। उत्सर्ग होगा तभी उत्कर्ष की ध्वजा फहरा सकेंगे। क्या ये शब्द इस धर्म साम्राज्य के लिये अनुपयुक्त हैं?

भ्राताओ ! क्या आप अपने को जैन धर्म के शान्त साम्राज्य का एक अंग नहीं समझते ? यदि ऐसा ही है, तो फिर से 'कार्यं साधयेत्या देहं पातयेत्' का पवित्र मंत्र हृदय में भर कर यह प्रतिज्ञा करें कि या तो जिन-धर्म का उत्कर्ष होगा या शरीर का उत्सर्ग होगा। क्योंकि हर एक का फर्ज है कि या तो स्वत्व की उन्नति करे या उसके लिये मर मिटे। अन्त में प्रेम के लिये पवित्र अंश में दो ही बातें रहेंगी—उत्कर्ष या उत्सर्ग की।

—जैन प्रकाश, दि० ११-२-१९३७

# रक्षक या भक्षक ?

जलती हुई आग में ईंधन डालने वाला अग्नि को विशेष प्रज्ज्वलित करता है, लड़ाई के समय किसी भी पक्ष की पीठ ठोकने वाला युद्ध वेग को विस्तृत करता है; उसी तरह हिंसक प्रयोगों में सहकार करने वाला मौत को मोल लेता है। इस सिद्धान्त की जितनी गहराई तक पहुंचा जाय, कम है। सामान्यतया यह नियम है कि पड़ोसी या प्रेमी को सक्रिय सहयोग करना, हमारा फर्ज हो जाता है। किन्तु सक्रिय सहयोग का पचड़ा हल करना बड़ा दुष्कर है।

सामने वाला हथियार से अपने विपक्षी को पराजित करने को तैयार है। तब सक्रिय सहयोग हथियार द्वारा होता है या शान्ति साधना द्वारा? इस प्रश्न के उत्तर जिनानुयायी जैनी भी द्वयात्मक प्रणाली से देते हैं। (१) पक्ष न्याय का है और हथियारों द्वारा ही न्याय कायम रह सकता है तो देश-प्रतिबंध वाले श्रावक हथियारों द्वारा युद्ध में सहारा दे सकता है; लेकिन वार पहले सामने वाले का हो, तभी यह संभव है। (२) पक्ष न्याय का हो या न्याय से परे हो लेकिन हथियार द्वारा सहकार करना भक्षक बनना है। रक्षक वही हो सकता है, जो दूसरों पर वार करना सीखा ही नहीं। हथियार से हथियार भिड़ाना या शरीर की इन्द्रियों द्वारा व्याघात-प्रत्याघात पहुँचाना। भक्षक बनना है। दुष्ट से दुष्ट प्रत्याघाती को प्रेम द्वारा या क्षमा-सहनशीलता द्वारा पराजित करना उसके हृदय को जीतना है, जीवन को परिवर्तित करना है। जैसे को तैसा वाला सिद्धान्त प्रत्याघाती

को उकसाता है। बदला लेने की भावना को विकसित करता है। दबाया हुआ व्यक्ति कालान्तर में शक्ति पाकर दबाने वाले की खबर लेने को तैयार रहता है और ऐसी ही भावनाओं में प्रतिदिन प्रगति करता है।

जैनी हो या हिन्दू, क्रिश्चियन हो या मुसलमान हिंसक प्रयोगों से शान्ति करने में न तो कोई सफल बना है न बनेगा ही। विरोधी भावनाओं का तिरोहित होना ही सच्चा जीतना है। विरोधी को दबाने से विजयी नहीं बन सकता है। विरोधी को दबाने से विजयी नहीं बन सकता है। वह तो हार का सेहरा सिर पर लिए हुए है।

आक्रमण से रक्षा करना और आन्तरिक कलहों को दबाना इन दोनों क्रियाओं में बिना पुलिस और हथियारबंद सैनिकों के सफलता नहीं मिल सकती। इस मान्यता वाले कुछ अंशों से ठीक कहते हैं, लेकिन वे वास्तविक रूप से इस शक्ति से अनभिज्ञ हैं। गुलामी में पले हुए मारकाट के ठरों से हिले हुए और लूटमार के भय से भयभीत हुए व्यक्ति ही ऐसा कह सकते हैं। यदि हमारा निर्माण अहिंसक तरीकों से होता, प्रेम व्यवहार, प्रेम का बोल और समविभागों द्वारा समानता का प्रचार हो, तो कभी ये समस्याएँ सन्मुख नहीं आतीं। हिंसक प्रचार ने ही ये समस्याएँ खड़ी की हैं। जिनका विराट् रूप दुनिया के कौने-कौने से युद्ध दावानल रूप में दिखाई दे रहा है। हिंसक प्रचार ने ही पड़ौसी को दे मारने और अपना भरण-पोषण करने की भावना और व्यवहार का प्रचार किया है। इसी से ये बवंडर और भयानक दृश्य सन्मुख हो रहे हैं। इसका सामना करने वाला, बिना हथियार वाला अहिंसक प्रचार ही सफल हो सकता है। साधारण शक्ति से यह कार्य नही बन सकता। जरा भी हिंसा का वेग इसे और इसके प्रचार करने में बाधक सिद्ध होगा, काम भी बहुत लंबा समय मांगता है लेकिन यहां समय भविष्य के प्रत्याघाती आक्रमणों के लिये बहुत शांतिकर सिद्ध होगा।

जो जैनी किसी भी समय प्रयुक्त प्रत्याघाती का मुकाबला करने में सिद्धांत की पुष्टी करता है और आक्रमण का जवाब प्रत्याक्रमण से देना बताता है वह जल्दी नहीं, देखी गुलाम है। रक्षक नहीं भक्षक है। मुझे यह स्पष्ट कर समझावे कि मार का जवाब मार से दिये जाने पर क्या विरोधी भाव या युद्ध का अंत हो जाता है ?

> अपने लिये हथियार जैसे पराये का सहारा लेने वाले निर्बलो ! सहनशीलता के नाम से डरने वाले कायरो !! पराधीनता का पाठ सिखाने वाले गुलामो !!! क्या तुम्हें और इससे भी भयंकर महाभारत कराने की फिर मनमें आरही है ? शक्ति को दबाने से दबती नहीं, उभरती है। वह अपनाने से ही दब सकती है। अपनाने वाला ही सच्चा रक्षक है, शेष सभी सरे-आम भक्षक हैं।

सोते हुए वीर पुत्रो ! हर साल पर्यूषण मनाने वाले जैनो !! अपने अहिंसक धर्म में ही आपसी वैर द्वेष की जागृति कर, अब तो थके होंगे। अरे, बताओ तो प्रत्याक्रमण कर कौन सी संप्रदाय का, कौनसे पक्ष का ऊंचा मान रखा है ? अहिंसक वीर होकर आपसी जैन जाति में भी शांति नहीं कर सके और रात दिन क्लेश के दावानल और संप्रदायवाद का भूत भभका रहे हो। क्या इसी आक्रमणकारी का जवाब प्रत्याक्रमण से देकर शांत करने के सिद्धांत के, प्रचार के लिये ही तो ऐसा नहीं कर रहे हो ?

शर्म आनी चाहिये 'अहिंसा परमोधर्मः' के सिद्धान्त का प्रचार करने वाले गुरुओं को ! समाज का अन्न खाना तभी सफल होगा, जब आप अपने विश्व धर्म को संसार व्यापी बनाने के लिये रचनात्मक अहिंसक योजना का प्रचार करेंगे। तभी तुम्हारा धर्म दीपेगा और संसार तुम्हारा लोहा मानेगा।

हजारों बार चिल्लाते रहो कि जैनियो ! अब संसार-व्यापी युद्ध

से वञ्चित प्राणियों के लिये अहिंसा-मय दयामृत पिलाने का अवसर निकट है। तुम उस वक्त के लिये क्या तैयारियां कर रहे हो ? हजार बार छोड़ कर, लाख बार लिखने पर भी जैनियों के किसी भी सत्ताधारी के दिल में यह नहीं आती कि एक संगठित अहिंसक सैनिक बनाने की योजना तैयार कर, आगे के लिये दिव्यास्त्रों का प्रयोग करें। किसको कहें और कौन सुने ? साधु और श्रावक बाड़ाबंधी के शिकार बने हुए हैं, उन्हें उस कार्य से ही फुर्सत नहीं।

सेठिया लोग भी जो मन में आवे, वही कार्य करने में लगे हुए हैं। हितकारी कार्यकर्ता और श्रेयस्कर कार्य उनके लिये शायद दुःखदायी बनते हैं। मौके को समझना और पूर्ण देखभाल और सत्य परीक्षण द्वारा कार्य करना ही फलदायी होता है।

जैनी कहते हैं हमारी दया त्रस-स्थावर सब्बजीव खेमकरी है। हमारे संत षड् कार्य रक्षक, छ: काय प्रतिपाल हैं, लेकिन मैं जैन कहता हूं, स्थावरों का रक्षण तो दूर रहा, त्रस में भी पंचेन्द्रिय मनुष्यों के संहार में हाथ बटाने वाले आपसी द्वेष द्वारा हिंसा का प्रचार कर रक्षक नहीं भक्षक बन रहे हैं। हिंसा की वृद्धि में लागलपेट भरे अहिंसक उपदेशों से सुधार नहीं हो सकता, न सत्य-अहिंसा का प्रचार ही हो सकता है।

विषमता का अंत ही सम है और सम ही अहिंसा रक्षक है। जैनी विषमता कायम कर सच्ची क्षमापना नहीं कर सकते। क्षमापना का मूल्य इसी में है कि विपक्षी को अपना बना ले। सभी के साथ प्रेम व्यवहार करे।

मैं सानुनय बिनती करता हूं कि आप सभी इस हिंसक और अहिंसक सिद्धांत की तुलनात्मक दृष्टि से पर्युषण जैसे शांत दिनों में खूब विचार कर, अपने भावी कार्यक्रम को निर्धारित करें। हमारा

उत्कर्ष सिद्धांत के प्रति अगाध प्रेम और सोत्साह प्रचार में ही सन्निहित है।

हमारी औषधशालाएँ, पाठशालाएँ, धर्म स्थान के और साधु सस्थाएं सभी अहिंसा के स्थान अहिंसक सैनिकों के शिविर बन जायें। एक बार फिर अहिंसक मठ देश के कौने-कौने में कायम हो जायं, तो भावी अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों पर शीघ्रतया शांति आधिपत्य पा सकती हैं।

हमारा भक्षक है वही कालान्तर में रक्षक बन जाय-ऐसा ही कार्य करना हमारे लिये हितकर है। हिंसक प्रचारों और कार्यों में किसी भी तरह की मदद करना अहिंसा की जड़ को काट कर मट्ठा डालना है। अहिंसा के बिना सत्य, न्याय, समता, एकीभाव आदि ससार शातिकर सिद्धांतों का पोषण नही हो सकता। जिस दिन यह कार्य विशेष प्रगति करेगा, उस दिन गांधी सरीखा प्रचारक भगवद् रूप मे पूजा जायगा। जैनी द्वितीय गांधी पैदा नहीं करेंगे तो इसका श्रेय ससार की कोई न कोई जाति करेगी ही, कारण दुनिया मे शांति की चाह दिनोदिन बढ़ेगी और निश्चय बढ़ेगी।

—जैन प्रकाश दि० १२-६-४०

# आज के जैन समाज का एक चित्र

"मेरे अनुयायी जैनी आज धर्म के नाम पर मेरे उपदेशों के नाम पर, मेरी प्रसिद्धि के नाम पर और मेरे सिद्धान्तों के नाम पर, अलग अलग अखाड़े बना चुके हैं।" ढाई हजार वर्ष में इतना परिवर्तन देख महावीर विचार संदोह में डूब गये।

मैंने दुनिया के विविध धर्मों, धर्मयुद्धों, शास्त्रार्थों, वितण्डावादों और विवादों को हल करने के लिए स्याद्वाद का मार्ग बतलाया, अनेकान्तवाद का प्रसार किया और सापेक्षवाद की दृष्टि दी तथा समन्वय की सृष्टि की। आज मेरे अनुयायी पक्षपाती, पक्षवादी, एकान्ती तथा मिथ्यात्वी बने हुए हैं। अपने-अपने सम्प्रदाय को मोक्ष तक ले जाने वाला सच्चा प्रेरक क्रियापोषक साबित कर रहे हैं। दूसरे सम्प्रदायों की क्रियाओं को, उनके अनुयायियों को और प्रचार को झूठा, वीरशासन के विपरीत नरकगामिनी मिथ्यात्व का पोषक मान रहे हैं। सब-के-सब अन्धे बन कर अपने-अपने आचार्यों के वाक्यों को प्रमाण मानकर, विविध प्रकार के पंथों का अनुसरण कर वीर-मार्ग की धज्जियां उड़ा रहे है।

क्या आज भी चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को जैनी वीर प्रभु की

जयन्ती मना रहे हैं ? मुझे तो पूरा शक है कि ये जयन्तियां नहीं मना रहे हैं। अपितु अपने-अपने मताग्रह द्वारा मुझ महावीर को अपमानित कर रहे हैं। दुराग्रह की आग ने महावीर के असली रूप को, असली सिद्धान्तों को और असली मार्ग को विकृत कर दिया है। फिर भी जयन्ती मनाने का ढोंग रच रहे हैं। पिता को मार कर पुत्र शौकाकुल होने का जैसा ढोंग करता है, वैसा ही मेरे अनुयायी मेरे सिद्धान्तों की हत्या कर, मेरी जयन्ती मना रहे हैं।

मदमाते मान के पुजारी ! शासन के हाथियो ! आचार्यो ! संघनायको ! क्या आपको अपने शासनपति महावीर के गुरुत्व का कुछ ध्यान है ? दिगम्बर, श्वेताम्बर, तेरापन्थी, तारणपन्थी, पीताम्बरी, कानपंथी, गुमानपंथी और न मालूम क्या-क्या पंथ बना डाले हैं। अपनी अपनी बुद्धि अनुसार श्रद्धालु अनुयायियों को किस तरह पार्टियों में डाल कर धर्म के नाम पर, मेरे सिद्धान्त के नाम पर, मेरी पूजाओं के नाम तथा शासन सूत्रों के नाम पर आपस में क्यों लड़ा रहे हो ?

क्या मैंने पाखंड में धर्म बताया, अलग-अलग सम्प्रदाय खड़े करने में समन्वय बताया और आपस में भाइयों को लड़ाने में क्रिया का रूप बताया ? अहिंसा के अवतार, सम्पूर्ण हिंसा के त्यागी साधु समाज का, आज का दृश्य देखकर मैं तो बहुत विचार में पड़ गया हूं।

जब तक जैनियों के सभी फिरकों का समन्वय नहीं होता, जबतक सभी जैनी एक मार्ग के अनुयायी नहीं बनते, जब तक सभी साधु साध्वी, श्रावक, श्राविकाएं एक संघ (वीर संघ) के नीचे आकर कार्य नहीं करते और जब तक चारित्र और साहित्य की रचना और क्रिया में एकरूपता नहीं आती, तब तक मेरी पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी मनाना, मेरी खिल्ली उड़ाना है।

मेरे पट्टनायको ! गादीधरो !! आचार्यो एवं संघनायको !!!

क्या मेरे प्रति आपकी भक्ति, पूजा और अनुरक्ति है ? या अपने-अपने मान-पूजा के फैलाये जाल से प्रेम है ? यदि अन्ध भक्तों में अन्ध भक्ति की उपासना का ही प्रसार करना है, तो मेरे नाम की, मेरे जन्म की और मेरे शासन की प्रशस्ति करना छोड़कर अपनी-अपनी निजी सत्ता की ही जयन्तियां और समारोह मनाया करो, ताकि आपको आनन्दानुभव प्राप्त हो सके। विकृत मार्ग को, मेरे नाम पर प्रचार करना बंद कर दो, यही मेरी पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी हो जायगी।

# महावीर के अनुयायी कौन ? एक समस्या

भगवान् महावीर, इस जगती पर वर्तमान अवसर्पिणीकाल के एक चोइसवें तीर्थंकर हैं; इन्हें कोई भी इतिहासकार भूल नहीं सकता। महावीर सबसे अधिक श्रमी और अपने नाम के एक ही महापुरुष हैं। हनुमान को भी महावीर कहते हैं, लेकिन यह उनके साहसिक कार्यों की उपाधि है। भगवान् वीर के वर्धमान नाम को महावीर रूप में परिवर्तित कर दिया गया और महावीर के नाम से उनका शासन तीर्थ चला और चला आ रहा है। ऐसे महावीर जिनके कर्म और नाम दोनों महावीर के अनुरूप हों, जिन्होंने स्वसिद्धि, परमात्मा-सर्वज्ञ-अनन्तज्ञानी के रूप में प्राप्त की और उस सफलता से चतुर्विध संघ की स्थापना कर तीर्थंकर पद की प्राप्ति की। उन्हीं का संघ वीर-शासन के नाम से प्रचलित हुआ।

वीर ने अपने शासन को अनेकांत, अहिंसा, अपरिग्रह एवं समन्वय की ऋद्धियां सुपुर्द की। आज उनका अनुयायी यदि इन ऋद्धियों से युक्त नहीं है, तो वह संघ एवं शासन मे रहने लायक कैसे हो सकता है ? हम आज महावीर का परिनिर्वाण महोत्सव बड़े गौरव और विशाल पैमाने पर मनाते आ रहे हैं। क्या हम उसके लिए पात्र हैं ? इस विषय पर किसीने सोचा भी नहीं। दुनिया में प्रत्येक मजहब वाला प्रदर्शन और नाम का भूखा है; उसी तरह जिन शासन का अनुयायी भी बनता

जा रहा है। इससे इस धर्म की जो गहरी जड़ें थीं, वे भी खोखली होती जा रही हैं।

कहना न होगा कि बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म अधिक निष्ठा से पाला जाता रहा और अपनी निजी सही क्रियाओं तथा सिद्धान्तों पर आरूढ़ रहा; लेकिन यदि हम उस स्थिति को भूल कर, कोरे नाम और दिखावे को लेकर, दुनिया में बढ़ेंगे, फैलेंगे और प्रशंसा पायेंगे, तो वही मात्र अस्तित्व में रह जायगा। परायी सम्पत्ति से कमाने वाला कब तक ऐश्वर्यशील और विश्वासपात्र बना रहेगा, यह सोचने की बात है।

आज सभी महा नेताओं, संघ प्रवर्तकों एवं आचार्यों के मस्तिष्कों में एकान्तवाद, सम्प्रदायवाद और ममत्व का चश्मा चढ़ा हुआ है। मौखिक अनेकान्त, अहिंसा, अपरिग्रह एवं समन्वय के नारे, उपदेश और प्रचार करते रहते हैं। उन्हें महावीर का नाम, शासन और सिद्धान्त प्रिय नहीं है। उनको उनके नाम से अपनी दुकानें अच्छी तरह चलानी हैं। उनके नाम की दुहाई से अपना यश विस्तार करना है।

आज क्या हम अलग-अलग संवत्सरी, पर्युषण, क्रिया-परिपाटियां, समाचारियां, मान्यताएँ, प्रचार प्रणालियाँ, शिक्षा शैलियाँ और सम्प्रदायें चला कर महावीर संघ के, शासन के और तीर्थ के अनुयायी कहला सकते हैं? महावीर परिनिर्वाण का धर्म-चक्र चलाने वाला, बड़े-बड़े जुलूस निकालने वाला, एक मंच पर आकर भाषण देने वाला, वीर के यशोगान का साहित्य प्रसार करने वाला और अन्य तरह के प्रचार प्रोपेगेंडा करने वाला, महावीर का अनुयायी है क्या? जरा, अपनी छाती पर अपना हाथ रखकर एक बार विश्वासपूर्वक कहो कि क्या यह बिखरा हुआ, सम्प्रदायों में बंटा हुआ और भिन्न मान्यताओं से बंधा हुआ जैन समाज और उसका सामाजिक प्राणी, वीर शासन का सच्चा पुजारी है?

मैं कहता हूं कि इस प्रदर्शन के ढोंग को दूर कर एक बार नहीं, बार-बार एक मंच पर इकट्ठे होकर इस बात का निर्णय लो कि अब हम किस तरह एक ऐसा मार्ग निकाल कर चलें कि सही माने में २५००वां निर्वाणोत्सव वीर शासन का प्रेरक बन जाय। चाहे महामुनि विद्यानन्दजी हों या युग प्रवर्तक तुलसी गणीजी अथवा आचार्य सम्राट् आनन्द ऋषिजी। इसी तरह अन्य आचार्य, महामुनि, पंथ चालक और राष्ट्र संत हों। उनके दिलों में एक आग होनी चाहिए, वह अभी तक पैदा नहीं हुई है। एक भूख जागृत होनी चाहिए, जो अभी तक नहीं हुई है। क्या दिगम्बर, क्या श्वेताम्बर, क्या तेरापंथ और क्या साधु-मार्गी या स्थानकवासी सभी अपनी-अपनी ढपली, अपने-अपने ढंग से बजाकर निर्वाण महोत्सव की खुशियां मना रहे हैं। करोड़ों, अरबों रुपयों के प्रचार प्रदर्शन, प्रकाशन और वितरण, स्मृति प्रशस्ति के नामांकन हो जायेंगे। उनके साथ द्रव्यदाता, प्रेरक और उद्घाटक के नाम भी अंकित हो जायेंगे, लेकिन महावीर के शासन के लिए, वीर संघ का अनेकान्तमय समन्वय का प्रतीक एक ढांचा बन नहीं पायगा। यही एक विडम्बना है, जो विद्वच्चक्षुगणों के मस्तिष्क में उठ रही है। नाम की जगह काम को कोई स्थान नहीं। इन सारे परिनिर्वाण के परिक्रमों में नाम ही नाम नजर आ रहे हैं। जिस सिद्धि के लिए इतना उहापोह मच रहा है; उसका कहीं पता भी नहीं है और न उसके कहीं प्रयत्न ही हैं।

"तेरापंथ सम्प्रदाय जैसी एकता नहीं" यह कहकर पिंड छुड़ा-कर बैठने वाले यशस्वी मुनिगणों और आचार्यो! अपना ममत्व विसर्जन करो और सारे वीर समाज का एक अनूठे ढंग से समन्वय पूर्वक एक नया ढांचा बनाओ। सभी सम्प्रदायों और उनके मार्गों को समी-करण कर एक संघ बनाओ, फिर आगे बढ़ो। सारा विश्व आपके चरणों में आ झुकेगा।

क्या श्वेताम्बर तेरापंथ वीर का संघ है या महावीर तीर्थ का सच्चा अनुयायी वर्ग है ? क्या दिगम्बर बीस पंथ, तारण पंथ, तेरा पंथ और कानजी की मान्यता वाले पंथों में से कोई एक पंथ महावीर का सच्चा अनुयायी वर्ग है ? क्या श्वेताम्बर मूर्ति पूजक के ८४ गच्छों में से कोई गच्छ वीर तीर्थ का सच्चा प्रतीक है ? क्या स्थानकवासी या साधुमार्गी सघ का श्रमण संघ अथवा उनमें से कोई सी भिन्न एक सम्प्रदाय, महावीर के शासन की सच्ची और सही मालूम पड़ती है ? हम कैसे पता पायें कि महावीर के अनुयायी कौन है ? या अमुक हैं। सच्चाइयों का ढोल सबने पीट रखा है, लेकिन गहराइयों में पहुंच कर अपना समय निकाल कर कभी भी सत्य संघ का निर्माण किसी ने करने की कोशिश भी जारी नहीं की है।

क्या इन प्रवर्तक आचार्यों को उपदेश देने और प्रचार करने तथा नाम कमाने से कोई फुरसत भी है कि अमुक माह का अमुक दिन हम वीर संघ की सच्ची सेवा करने और वीर संघ का सही माने में निर्माण करने में उत्सर्ग करें। अहिंसा, अनेकान्त, अपरिग्रह और समन्वय के उपदेशको, प्रचारको और अनुयायियो ! क्या आप बता सकेंगे कि महावीर का अनुयायी कौन है ? क्या आप हैं, अथवा आपको मानने वाले भक्त ? जरा, आंखें खोलो, व्यर्थ का मिथ्या प्रचार-प्रसार बन्द करो। महावीर के शासन को, उनके सिद्धातों को और उनके श्रम के इतिहास के परिक्रमों को अब अधिक मत लजाओ। कह दो, अपने भक्तों को कि यह हमारा सब प्रचार एकान्त का पोषण करने वाला है अतः हमसे घृणा करो और हमारी पूजा तथा यशोगान सब बन्द करो।

मुझे बहुत दुःख होता है कि प्राचीन आचार्यों की परिपाटियों को पकड़ कर हम एक सूत्रता नहीं पा रहे हैं। आचार्यों ने भी समय देखकर परिवर्तन किया होगा। अब समय विज्ञान का है और सारे विश्व धर्म के संस्थापन का है। समय देखकर परिवर्तन करना ही सुज्ञों

एवं प्राज्ञों का कर्तव्य है। क्या कारण है कि आज के इस विज्ञ मानवों के युग में जैन समाज के मनीषि विद्वान् और प्राज्ञ साधु, समय के अनुसार अनेकांत, अहिंसा, अपरिग्रह तथा समन्वय का मार्गानुसरण कर एक वीर-संघ का रूप क्यों नहीं दे पा रहे हैं ?

एक ग्रंथ, एक प्रतीक और एक झंडा करीब-करीब मान्यता पा गये। अब एक संघ योजना के लिए शीघ्र प्रयत्न करना चाहिए। सारे संघों और धर्माचार्यों तथा प्रवर्तकों से विनय है कि वीर के ममत्व विसर्जन एवं समन्वय पूर्वक अनेकान्तमय तीर्थ संघ के सर्जन का शीघ्र प्रयत्न करना चाहिए, चाहे महीनों इसमें लग जायं।

भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के विहार को बंद करो और आओ एक जगह एकत्रित हो जाओ। एकत्रित होकर खूब विचारो, तर्क-वितर्क करो, वाद-विवाद करो और सिद्धान्तों को अनेकान्त की कसौटी पर परखो तथा उनको सम्यक् समन्वय पूर्वक एक सूत्र मे पिरोओ। क्या ही अच्छा रूप निखर आयगा, इन सिद्धान्तों का और इन सिद्धान्तों के सर्जनहार सघ का।

क्या कभी कल्पना भी होती है, इन महान् धर्म प्रवर्तकों को कि हम जो कुछ कर रहे हैं क्या वही सत्य है या दूसरों में सत्य रहा हुआ है ? सभी सम्प्रदाय वाले आचार्य कहते हैं कि हमारे पथ की मान्यता सच्ची है। अतः मुक्ति में आना चाहते हो तो तेरा-पंथी बनो, बीस-पंथी बनो, श्वेताम्बरी बनो, दिगम्बरी बनो, साधुमार्गी बनो, मूर्ति पूजक बनो, तारणपंथी बनो और स्थानकवासी बनो। क्या एक-एक सम्प्रदाय ने अपनी-अपनी मुक्ति का ठेका ले रखा है ? एक-एक सम्प्रदाय ने महा-वीर को महावीर के शासन को और उनकी मान्यताओं को अपने दायरे में बांध रखा है और इसी के बूते पर वे सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान तथा चारित्र की पालना की प्रशस्ति जाहिर करते हैं। क्या दूसरी सम्प्रदायें मिथ्यात्व की पोषक हैं और वीर की संघचालिका नहीं ?

क्या हम महावीर के अनेकांत की हत्या करने वाले हैं या अनेकांत को संजीवन प्रदान करने वाले हैं ? यह प्रथम सोचो। सम्यक् दृष्टि कहां है ? और कैसी है ? इसे देखो। अनेकान्त दृष्टि अपनाओ, सभी सम्प्रदायों में एकीकरण की भावनाओं का विस्तार करो। घृणा और द्वेष की भावनाओं का विसर्जन करो। सब में सत्य का अन्वेषण करो और समन्वय को अपनाओ। यही एक मात्र उपाय है जो वीर ने अपने समय में अपनाकर वीर संघ को बहुत विस्तृत बनाया था। साधारण से साधारण व्रत को धारण करने वाले को भी व्रती और उनके विचारों में विश्वास रखने वाले को अनुयायी कहा था। विचारों के विरुद्ध वर्तन वाले से घृणा तक नहीं की। अन्य दर्शनो के प्रचार में भी अपनी मान्यता का अंश देखा। उन वीर के अनुयायी जो प्रायः समान सिद्धान्तों के मानने वाले हैं, एक संघ रचना में क्यों नहीं आ सकते ? इस बीज की खोजकर उसको वपन कर संजीवन करो। एक वीर संघ, एक प्ररूपणा, एक समाचारी और एक साहित्य तथा सबकी एक प्रचार प्रणाली का निर्माण हो। प्रमुख पर्वों और त्योहारों का एक रूप और एक दिन निर्धारित हो। सब एक रस हों। वीर संघ को विश्व संघ बनावें—ऐसा उत्क्रम हो, तो निश्चित ही हम वीर के अनुयायी होंगे और हमारा निर्वाणोत्सव सफल होगा।

जैन प्रकाश साप्ताहिक

२५–२–७५

सुधर्मा मार्च, १९७५

# वर्द्धमान वीर का अनन्त ज्ञान-अनेकान्त और अनन्तवीर्य-श्रमणाचार

सोचने और समझने की भिन्न-भिन्न शैली मानव-मस्तिष्क को "मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिना:", "भिन्न मतिहि लोक:" की लोकोक्तियों का अनुशीलनकर्ता जाहिर किया है। यह तो मानव के सीमित मस्तिष्क की भिन्नता जाहिर करता है, लेकिन मानव के अतिरिक्त असंख्य पृथ्वी पिण्डों के असंख्य प्राणी समूह के मस्तिष्कों की असीम विचार सरणियों का बोध भी एक विशिष्ट मानव ने अपने आत्मज्ञान से प्राप्त किया था, यह एक परम आकर्षक वृत्त है।

लोक और अलोक की सीमा के पार कुछ हो या न हो, लेकिन जिसे हम लोक की भाषा में लोक कहकर चलते हैं और अनन्त आकाश तथा असंख्य भूपिण्ड वर्तमान हैं, उसका पता पाने के लिए असीम, अमाप और अपार ज्ञान की आवश्यकता होती है। ज्ञान से हम विज्ञान की ओर बढ़ रहे है, लेकिन जहां ज्ञान और विज्ञान की पहुंच नहीं हो सकती उस पराज्ञान या परम ज्ञान का धनी परमात्मा, अनन्त ब्रह्माण्ड का केवल ज्ञान-अनन्तज्ञान-अनेकान्त का सृष्टा होता है।

एक प्राणी के मस्तिष्क का संपूर्ण ज्ञान, विज्ञान भी नहीं पा सकता। अनन्त ब्रह्माण्डों के अनन्त प्राणियों का पूर्ण ज्ञान अनेकान्त केवली ही पा सकता है; लेकिन सोचने, समझने और वर्तने के लिए दुनिया को उतनी मात्रा में कह नहीं सकता। शरीर सीमित है, शरीर की इन्द्रियां सीमित हैं। असीम ज्ञान को सीमित मस्तिष्क ग्रहण नहीं कर सकता। सीमित वाचा कह नहीं सकती और सीमित लेखनी लिख नहीं सकती। अनन्त का बोध होता है। अनन्तता का आनन्द प्राप्त होता है। अनन्तता का प्रकाश मिलता है; लेकिन अनन्तता स्वयं प्रकाशित नहीं होती। अनन्त का धनी परमात्मा स्वयं प्रकाशमय है, ज्योतिर्मय है। जगत् स्वयं उसमें भासित होता है; लेकिन जगत् को भासमान नहीं करता है। जहां चेतन है, वहां ज्ञान है। ज्ञान है, वहां प्रकाश है। प्रकाश स्वयं परमात्मा है।

सूर्य का प्रकाश, अग्नि का प्रकाश, रत्न का प्रकाश या अन्य तरह का प्रकाश—जड़ प्रकाश है। जड़ भी अनन्त शक्तिशाली है। जड़ और चेतन ही संसार है। जड़-चेतन ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक सत् है। सत् द्रव्य है और ध्रौव्यात्मक सत् द्रव्य का लक्षण है और द्रव्य ही जगत् का सचालनकर्ता है। जीव हो—चाहे अजीव, धर्म हो—चाहे अधर्म, अकाल हो—चाहे काल, सभी द्रव्य हैं। द्रव्य अनन्त हैं; लेकिन सभी द्रव्यों में चेतन द्रव्य जीव है। वही जगत्-ज्ञान का आविष्कारक एवं विज्ञाता है, सृष्टा और संचालक है—इसे ही ब्रह्म कहते हैं। इसे ही ईश्वर कहते हैं। इसे जीव और आत्मा भी कहते हैं। जब आत्मा पूर्ण कैवल्य को पा जाता है, परमात्मा बन जाता है।

मानव परमात्मा बनने योग्य है; अतः मानव अनन्त ज्ञान का धनी अनेकान्ती बन सकता है। वेदान्ती और अन्य कोई भी दार्शनिक, नास्तिक या आस्तिक सभी अपनी-अपनी दृष्टि से अनन्त की खोज करता है और अनन्त विश्व का पार पाने में जब असमर्थ होता है, तो अन्त

में नेति-नेति कहकर अपने आविष्कार की प्रगति अवरुद्ध कर देता है। अनादि और अनन्त का निरूपण मानव मस्तिष्क की सर्वोपरि परिज्ञान की विष्कृति का परिणाम है। वर्धमान वीर का अनन्त ज्ञान अनेकान्त रूप में प्रशस्त हुआ। यह सबसे पूर्ण और सब दृष्टि से उपयुक्त जगत् में शान्ति एवं व्यवस्था का अमोघ अस्त्र है। वर्धमान सदैव वृद्धियुक्त होता है। जो पूर्ण है, वह वर्धमान है। अपूर्ण है, वह हीयमान है। महावीर की वर्धमानता अनेकांत सिद्धान्त की सर्जना में वर्तमान है। अनन्त काल तक वर्धमान एवं वर्तमान रहेगा।

अनेकान्त विचारसरणि ही नहीं, अपितु अनेकान्तमय वर्तन और अनेकांतमय जगत् का परिवर्तन और सत्ता रूप सत्यापित करने का मूल मंत्र है। सारा जगत् अनेकान्तमय है, सारे ज्ञान अनेकान्तमय हैं, सारे आविष्कार अनेकान्तमय है और सारे समाज के प्राणियों के व्यवहार अनेकान्त मय हैं। अनेकान्त वास्तविक है और अनेकान्तता वास्तविकता है। यथार्थता अनेकान्तता है। महावीर ने सबसे श्रेष्ठ बोध सिद्धांत रूप में अनेकांत का दिया आचार, विचार और प्रचार में जहां अनेकान्त है, वहां का संसार आनन्द का स्रोत व्यवस्था का भण्डार और शान्ति का साकार ब्रह्म है।

जो विद्वान् महावीर को थोड़ा समझते हैं वे कहते हैं कि वीर ने विचारों में अनेकान्त, आचार में अहिंसा और समाज व्यवहार में अपरिग्रह का उपदेश और ज्ञान का वितरण किया। लेकिन जो वीर की सर्वज्ञता, अनेकान्तता और कैवल्य का ज्ञान रखते हैं, वे यही कहते हैं कि सारे संसार को सद्वर्तन, सच्चिदानन्द और सर्वज्ञ बनाने में महावीर ने अनेकान्त सिद्धान्त की सर्जना की। अनेकान्तवाद नहीं, सिद्ध-सफल-अन्त सिद्धान्त है। एक का नहीं, अनेक-अनन्त का जहां बोध हो, वही अनेकान्त है। सारा विश्व ज्ञान, वर्तन और सिद्धि का अन्तर्नाद अनेकान्त है।

अनेकान्त सर्वोदय अर्थात् सर्व प्राणियों का उदय, सर्व आत्मिक शक्तियों का विकास, सम्पूर्ण प्राणि समाज का उत्थान और परमात्म भाव में रमण करने का पूर्ण ज्ञान और क्रियामय सिद्धान्त है। सम्पूर्ण वादों का अन्त करने वाला, सम्पूर्ण रीति रिवाजों, संस्कृतियों, रहन-सहन, आदर्शों, विचार, आचार, भाषाओं एवं अनन्त वर्ण भेदों को अपने में समालेने वाला समन्वयवर्ती सिद्धान्त अनेकात है। अनेकान्त का सृष्टा, अनन्त का ज्ञाता सर्वज्ञ होता है। महावीर ने अनेकान्त की सर्जना समाज की विषमता दूर कर, समता की रचना के लिये की। यदि समता सर्वोदयी बन जाती है, तो अनेकांत का निष्कर्ष सत्यं, शिवं सुन्दरम् के रूप में निखर आता है तथा अन्त में सच्चिदानन्दमय पूर्ण परमात्मा में सम्मिलित हो जाता है।

महावीर के उपदेश और महावीर की संघरचना, विश्व शान्ति में सर्वोदय की प्रतिष्ठा कराने के लिये अनेकान्त सिद्धान्त को व्यापक रूप देना मात्र है। विषमता को मिटाकर समता का सूर्योदय करना मात्र है। वीर के शास्त्रों अथवा आगमों से मैंने जो प्राप्त किया, उसमें सर्वोत्तम वस्तु यही है। वीर के अनेकान्तमय पूर्ण ज्ञान के उपदेशों से मैं परमाकर्षित और हर्षित हूं।

सर्वग्राही चेतन-सत्ता का प्रकाश प्राप्त करने के लिये पुरुषार्थ क्रिया का सम्पादन वीर का द्वितीय परमोत्तम सिद्धान्त श्रमणाचार है। मानव जैसे तुच्छ प्राणी का अपनी आत्मा की स्थिति का बोध पाकर दूसरों की आत्मा में अपना बोध—संसार मे अशान्ति और व्यवस्था की दारुण विषमता को देखकर, स्वात्म बल को जागृत कर, परमात्मा रूप बनकर, जगत् में समता का प्रचार करना—जगत् के दुःखी जीवों को अनन्त सुखों की ओर ले जाना महान् पुरुषार्थ का कार्य था।

वीर ने ईश्वर जैसी परम सत्ता का निरीक्षण अपने आप में किया और उसे पाने के लिये गृह जीवन को त्याग कर एकान्त, शान्त

तपस्वी जीवन को अंगीकार कर, अनन्त प्रकाश की खोज में लीन रहे। वर्षों तक अनन्त वीर्य को प्राप्त करने के लिये परिषह एवं उपसर्ग सहन किये, तपस्याएं कीं, मौन रहे, ध्यानमग्न रहे, आध्यात्मिक अन्वेषणा में जीवनदान दिया और अंत में अनन्त कैवल्य को पाया।

मानव स्वयं पुरुषार्थी बने, भाग्य एवं पराश्रित जीवन का त्याग कर स्वाश्रयी स्वाधीन स्वतन्त्र एवं स्वाध्यायी बने, यह मूल मन्त्र महावीर का था। महावीर ने प्रभु रूप में जन्म ग्रहण नहीं किया, लेकिन अपनी क्रियाओं एवं पुरुषार्थ से प्रभु तीर्थंकर बने। आत्मा परमात्मा बन सकती है, यदि मानव आत्मा से महात्मा, विरक्त, निर्वेद, निर्ग्रन्थ, श्रमण एवं परिव्राजक बने। श्रमण बनने पर कषायों और विषयों को जीतने के लिये निरन्तर ध्यानस्थ मनोवृत्ति को ग्रहण कर आत्मा के अनन्त प्रकाश पर के आवरण को दूर करने के लिये सतत् यत्नशील बने। क्षायिक गुणों को ग्रहणकर आत्मा से आबद्ध मोह, अज्ञानादि कर्मों का मूलोच्छेदन करे। बन्धन से मुक्त होने के लिये निरन्तर क्षमक श्रेणी में बढ़ता रहे और अन्त में अनन्त कैवल्य को पाने का प्रबल पुरुषार्थ सार्थक करे।

मानव मात्र अनन्त-अनेकान्त का ग्राही बनने के लिये स्वाधीन बनकर पुरुषार्थशील बनना स्वीकार कर वर्तन करे, यह दिव्य घोष वर्धमान महावीर ने स्वाचार वर्तन से जगत् के सम्पूर्ण प्राणि जगत के लिये किया। इस वर्तन से मैं बड़ा प्रभावित हूं।

नापेक्षा चक्रिरेऽर्हन् परं सहायकं क्वचित्।
नेतद् भूतं भवति वा भविष्यंति जातुचित्॥

और

स्ववीर्येणेव गच्छन्ति जिनेन्द्राः परमं पदम्॥

ये दो महान् पद्यात्मक विवरण स्वयं कर्ता, स्वयं पुरुषार्थसेवी, श्रमजीवी, श्रमणरूप परमात्मा बनने का उद्घोष करते हैं। कभी भी

अर्हंत बनने के लिए दूसरों की सहायता की आवश्यकता नहीं रहती। जितने भी जितेन्द्रिय हुए हैं, वे सभी अपने पुरुषार्थ से परमपद को प्राप्त करने में सिद्ध हुए हैं।

जो व्यक्ति मुमुक्षु एवं भव्य की श्रेणी में आता है, वह किसी भी पराशक्ति भगवान, विश्व रचयिता विधाता और अदृश्य सहायक देव की शरण नहीं जाता। "देव, देव आलसी पुकारा"— भाग्य से होगा अथवा देव की कृपा से होगा। यह सब आलसियों की पुकार है। "अप्पा कत्ता विकताये"—आत्मा ही कर्ता और भोक्ता है। कोई भी दूसरा इसमें दखल नहीं कर सकता।

महावीर ने उस समय के ऋषि महर्षियों के यज्ञों में होने वाले पाखण्ड को और श्रम के प्रति आलस्य को दूर हटाया। स्त्री, शूद्रों के लिये पुरुषार्थ के बल पर परमात्मा बनने का मार्ग प्रशस्त किया। शूद्र जीव भी अपने आत्मिक श्रम के द्वारा अनेक जन्मों के सतत् प्रयास से परमात्मा बन सकता है। नर जन्म मानव जन्मधारियों के लिये सिद्धदायक है। श्रमशील बनने से जन्म सार्थक होगा। मानव, इसी जीवन में सबमें अपने आपको देखता हुआ और सबके साथ समान वर्तन करता हुआ, जीवनमुक्त बन सकता है। "कषायमुक्तिःकिल मुक्तिरेव" का डिंडिमनाद करने वाला वर्धमान महावीर क्रोध, मान, माया और लोभ से स्वयं दूर होने का श्रम करता है, स्वयं मुक्त बनता है और दुनिया को वह मुक्ति का मार्ग बताता है। श्रमण धर्म और श्रमण संस्कृति का पुनरुद्धार करता है। अपनी भक्ति, परमात्मा की भक्ति और नाम के यशोगान की किसी भी प्रकार की अस्तित्व-वृत्ति को वीर स्वीकार नहीं करता।

आज जो हम लोग उनका भगवान् के रूप में मानने का बोझ उठाये हुए हैं, उससे हम स्वयं बोझिल बन गये हैं। वे अज्ञान, अदर्शन, मोह, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय को नष्ट कर, अनन्त अनेकान्त के प्रकाश को पा जाते हैं। उनसे श्रम का फल हमें भी बरो-

हर में मिलता है। यदि हम उस चेतन पुंज का विश्व के विराट् रूप में दर्शन करलें, तो हमें उनके २५सौवीं निर्वाण जयंती का बाह्य प्रदर्शन का अवसर ही प्राप्त न हो। हम दर्शन करने की अपेक्षा प्रदर्शन प्रिय हो गये हैं। अत. मैं उनके अनेकान्तमय जीवन दर्शन के साथ श्रममय श्रमण भगवान के भी दर्शन का, जगत् के विज्ञ पुरुषों को इस ओर बढ़ने, सोचने और वर्तने का, आह्वान करता हूं।

श्री अमरभारती
दिसम्बर, १९७३

# अनेकान्तवाद या अनेकान्त सिद्धान्त

"जैन" शब्द जैसे व्यवहार में आया, वैसे ही "अनेकांतवाद" का प्रयोग हुआ। "जैन" शब्द स्वयं श्रमण संस्कृति के संस्थापकों ने नहीं दिया। श्रमण धर्म में श्रमणोपासक या श्रमणोपासिका अथवा श्रमण-श्रमणी शब्द का प्रयोग हुआ है। इसके साथ ही "निगण्ठ" शब्द का भी बार बार उल्लेख आया है। वीतराग धर्म एवं जिन के धर्म का प्रयोग भी कहीं कहीं आता है। परन्तु जिन के अनुयायी जैन कहलाने के अर्थ में बौद्ध, शैव, वैष्णव आदि की भांति जिन शब्द पर से जैन शब्द का प्रचलन अन्य मतावलम्बियों ने ही किया है। भगवान महावीर ने कभी अपने धर्म का नाम यह नहीं बताया, न ही कहीं जैन धर्म शब्द का प्रयोग प्राचीन ग्रन्थों एवं आगमों में आता है। पुरानी रचनाओं में इसका प्रयोग नहीं सा है। आर्य धर्म (अज्ज धम्मो) अवश्य प्रस्तुत हुआ है। दूसरे मतावलम्बियों ने इस निवृत्ति प्रधान श्रमण धर्म को जिन धर्म और उसके अनुयायियों को जैन कहकर जगह-जगह उल्लेख किया है और जैन शब्द रूढ़ बन जाने से जैनियों का धर्म 'जैन धर्म' कहलाया।

इसी प्रकार प्राचीन समय में चलने वाले अनेक विचार परम्पराओं को 'वाद' रूप से पुकारा गया है। हमारे यहां भी दृष्टिवाद, स्याद्वाद, नयवाद, सापेक्षवाद आदि व्यवहार में आये हैं। वैचारिक क्षेत्र के

कुछ वाद वास्तव में कुछ वाद हैं। लेकिन अनेकांत अपने आप में एकांतवाद का प्रतिकार है, विरोधार्थ (उल्टा) है। जो वाद हैं वे चर्चणीय हैं—विवाद युक्त हैं, अतः वे एकान्त का पोषण करने वाले है। अनेकात का अर्थ है—अनेक में जिसका अन्त है अथवा अनेक का जहा अन्त है। अर्थात एक का अन्त अनेक में और अनेक का अन्त जहां होता है वह वाद नहीं रह सकता, वह सिद्धान्त बन जाता है। जब तक एक पक्ष का पोषण होता, वाद रहता है। लेकिन अनेक—अनन्त का जिसमे समावेश होता है वह वाद कैसे रह सकता है? जैसे छोटे बड़े नालों और नदियों की अनेकता प्रत्यक्ष दृष्टिगत होती है, लेकिन जब वे समुद्र में मिल जाती है तो एकता या अनेकता दोनों ही विलीन हो जाती हैं और सागर बन जाता है। सागर के समान ही अनेकांत है, अतः उसके साथ वाद शब्द का प्रयोग शोभा नहीं पा सकता।

जैसे वीर के आगमों मे दृष्टिवाद है वैसे दृष्टिवाद से समिष्टवाद भी प्रादुर्भूत होता है। भिन्न भिन्न दृष्टियों से सिद्धान्त को, आगम को, प्रवचन को और आज्ञवाणी को समझा जाता है, लेकिन वाणी अपने आप में अखण्ड और अजस्त्र भावों के लिये होती है। तीनों कालों और तीनों लोक में जो अबाध्य हो, अकाट्य हो शाश्वत हो और एक समान व्यवहृत हो, उसे हम वाद नहीं कह सकते। वह तो सिद्धान्त है।

जैसे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पंचशील एक अहिसा, सहयोग, प्रेम तथा शांति के ही भिन्न भिन्न रूप हैं, अथवा सम्यक चारित्र के अग है और पूर्ण चेतन तत्व के प्रकाश को पाने के लिये भिन्न-भिन्न चर्या के अंग हैं। उसी तरह भगवान महावीर के निगण्ठ धर्म को वह अन्य तत्वों को भिन्न भिन्न तरीकों से समझने के लिये पूर्ण ज्ञान का द्योतक, उनका अनेकात सिद्धान्त है। जो सूर्य

के समान स्वयं भासित होता है, उसे प्रकाशित करने के लिये दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। विश्व के तमाम धर्मों को समझने में भी अनेकांत सिद्धान्त लागू किया है।

भिन्न-भिन्न दृष्टियों और वादों को समझने और निष्कर्ष निकालने के लिये वाद-विवाद अथवा तर्क की प्रतिष्ठा की आवश्यकता नहीं है। अनेकांत तो इन सब प्रयोगों और प्रयत्नों में स्वय वर्तमान है। अनेकांत के ही अनेक और अनन्त रूप हैं, जो ज्ञान लाभ के लिये प्रयोग में आ रहे हैं। अनेक ढंग ही अनेक मार्ग हैं और अनेक मार्गों का सम्मिलन ही अनेकांत है। अतः यह पूर्ण है। जहां पूर्णता है वहीं अनेकात सिद्धान्त है। जिसका अन्त ही सिद्ध है, सफल है वह सिद्धांत हैं। जैसे (0) पूर्ण–जीरो स्वयं में पूर्ण है। जितनी भी गिनती की संख्याएँ हैं उनमें (0) पूर्ण ही पूर्णाङ्क है। यह ऐसा बलयाकार पूर्ण है कि इसका आदि और अन्त नहीं जाना जा सकता। जगत् का आदि अन्त बताने के लिये इसी बलयाकार (0) पूर्ण का आश्रय लिया जाता है। जैसे इस गोलाकार पूर्णाङ्क में कहीं पर आदि और अन्त का दर्शन नहीं होता, उसी तरह जगत् भी अनादि अनन्त है। अन्य अकों की लाइनों में आदि और अन्त स्पष्ट मालूम पड़ते हैं, लेकिन (0) पूर्ण में आदि अन्त का पता नहीं मिल सकता। इसी तरह अनेकों का अन्त होकर अनन्त बनता है, वही अनन्त अनेकांत है। अतः वह पूर्ण है। पूर्ण (0) में से एक या अनेक बार निकालने पर शेष भी पूर्ण रहता है और एक या अनन्त बार योग देने पर भी पूर्ण ही आता है। भाग दो या गुणा करो, सब में एक ही उपलब्धि होती है, वह है पूर्ण (0)। अतएव पूर्ण की तरह अनेकांत को भी पूर्ण रूप मानें सिद्धान्त मानें, अतः वाद का अन्त है, सिद्धान्त का नहीं।

जितने जगत् के तत्व हैं या द्रव्य अथवा पदार्थ हैं, उन सबमें

अनेकातता है। जगत् के जितने धर्म मार्ग हैं, मजहब हैं, पन्थ अथवा वाद है, उन सबमें अनेकात का अस्तित्व है, उन सबमे अनेकांत वर्तमान है। बिना अनेकांत को समझे उनके स्वभावो का ज्ञान भी नही हो सकता। उनकी अनेकांतता ही उनका स्वरूप है। ये सब तत्व, द्रव्य पदार्थ, गुण या धर्म मार्ग अनेकांत है। यही पूर्ण हैं और अनन्त धर्मात्मक वस्तुओं को समझने के तरीके भी अनन्त हैं। वे सब अनेकात सिद्धान्त के अनन्त रूप हैं। अतएव अनेकात अनन्त किरणों वाला पूर्ण ज्ञान अथवा केवल ज्ञान रूपी सूर्य है, जो वाद न होकर स्वयसिद्ध अनेकात सिद्धान्त है और केवल ज्ञानियो द्वारा ही प्रशस्त किया हुआ है। अल्पज्ञों द्वारा बनाया हुआ वाद होता है। यह अनन्त वादो का अन्त करने वाला अनेकात सिद्धान्त है।

वीर प्रभु ने उस समय के प्रचलित वादो या धर्म मार्गों का विरोध नही किया, अपितु उनमे रही हुई सत्यता का विश्लेषण कर समन्वय दृष्टि से सत्य का सही तरीका जगत् के सामने रखा और स्वय ने काम मे लिया।

अद्वैतवादी श्री जगद्गुरु शकराचार्य ने भारत के सभी धर्मों और वादो को परास्त कर दिया लेकिन वे अनेकान्तमय वीर-धर्म को परास्त करने मे सर्वथा असमर्थ रहे। वे यो कहते थे कि "यह बहुत बिलो वाला चूहा है, इसे पकडना बड़ा मुश्किल है। एक बिल की तरफ बढ़ता हू तो दूसरे मे चला जाता है।" इस तरह जो शकराचार्य पहले अनेकांत को सशयवाद कह कर पुकारते थे, उन्होंने ही इसे अनेक बिलों वाला चूहा कह अनेकात की सार्थकता कबूल की। वे समझ गये थे कि यह एकातवाद को स्वीकारता नही है। अमुक अपेक्षा से यह भी सत्य और वह भी सत्य है, ऐसा मानता है। कोई मार्ग और वाद पूर्णतया असत्य नही होते हैं और न अपने आप

में पूर्ण होते हैं। जहां अनेकांत सूर्य है, वहां सब वादों का अन्त हो जाता है।

इस सिद्धान्त का इतना असर हुआ कि इसी अद्वैतवादी वेदान्त दर्शन में पीछे से चलकर द्वैतवादी, द्वैताद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी, शुद्धाद्वैतवादि आदि अनेक सम्प्रदायें बन गईं, जो अभी भी वर्तमान हैं। हमारा अनेकांत दर्शन दुनिया के जितने भी धर्म मार्ग या वाद हैं, उनका विरोध नहीं करता; वह तो अपनी समन्वय दृष्टि से इनमें भी सत्य देखकर परस्पर मिला हुआ समझता है या मिलाना बताता है। जो दो या अनेक मार्गों का बताने वाला पथदर्शक बोर्ड होता है वह मार्ग नहीं होता। यह तो मार्गों को बतलाने वाला है। अतएव अनेकांत को वाद कहना उचित नहीं, यह सिद्धान्त है।

जगत् अनन्त है। जगत् के तत्व, द्रव्य, गुण और पर्याय अनन्त हैं। विवक्षा करके समझाने के लिये एक, दो, तीन, चार, संख्या, असख्य और अनन्त भेद कहे जाते हैं। जीव और अजीव दो तत्त्व कहे हैं, उन्हीं को ७ कहा, उन्हीं को ६ कहा। लेकिन ये स्थूल रूप से समझाने के लिये हैं। इनके और भी बहुत भेद बना सकते हैं और अन्त में अनन्त का नम्बर आ जाता है। तत्वों, द्रव्यों, गुणों और पर्यायों को जानने के तरीके भी अनन्त हैं। वे सब तरीके अनेकांत के रूप हैं। कहना होगा कि द्रव्य अनन्त और उनका ज्ञान करने वाला ज्ञाता अनन्त तथा ज्ञान भी अनन्त है। जो एक है वह अनन्तमय है और जो अनन्त है वह एक है। एक का अन्त अनेक में हैं। एक व्यक्ति है और अनेक से जाति बनती है। व्यक्ति का समावेश जाति में है ही। अनेक का अन्त अनेकांत में है। अनेकांत अर्थात् अनन्त यही अनेकांत का रूप है। जैसे सिद्ध —'एक मांहि अनेक राजे अनेक माहि एककं—अर्थात एक मे अनेक और अनेक में एक है, वैसा ही अनेकात सिद्धान्त है।

एक सूक्ति है—'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ'—'एको भावो सर्वथा येन दृष्टः, सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।' इसके भाव को, अर्थ को और व्यंजन को जो समझता है, वह सर्वज्ञता का उपहास नहीं कर सकता। एक द्रव्य को यदि ज्ञाता सम्पूर्ण रीत्या जान लेता है, तो उससे कोई वस्तु छिपी नहीं रह सकती। सर्वकाल और सर्वक्षेत्र को सब प्रकार से जानने वाला अनन्त ज्ञानी-केवल ज्ञानी होता है। चर्म चक्षुओं से या शरीर के अन्य अंग-उपांगों से यह ज्ञान सुलभ नहीं है, अतः इस ज्ञान का ज्ञाता अनेकांत दर्शी होता है। वह एक भाव को अनेक अनन्त दृष्टि से जानता है अतः वह अनेकांत ज्ञाता होता है। उसके द्वारा कहा हुआ अनेकांत सिद्धान्त होता है। उसमें कोई भूल या कमी नहीं होती। इस तरह के अनेकांत को वाद से सुशोभित करना, सिद्धान्त की हत्या करना है। स्वयंसिद्ध अनेकांत सिद्धान्त सर्वकाल और सर्वक्षेत्रों में पूर्ण व्याप्त है। समान रूप से व्यवहृत है, अनेकांत को वाद मानना, मिथ्या ज्ञान की परिभाषा में आता है।

अनेकांत के साथ 'वाद' शब्द जोड़ कर जो अनेकांतवाद का प्रयोग आज के या पुराने विद्वान कर रहे हैं वे व्यवहार दृष्टि से कर रहे हैं। निश्चय मे अनेकांत के साथ "वाद" शब्द उपयुक्त नहीं है। अतः अनेकांतवाद की जगह अनेकात सिद्धान्त ही वास्तविक प्रयोग हो सकता है, और है।

'अनेकांतवाद' का शब्द प्रयोग जैन धर्म की तरह प्रचलित कर दिया गया है। धर्म जिस तरह सर्व काल और सर्व लोकों में एक ही है और शाश्वत है। धर्म की दो प्रतिकृतियां नहीं हो सकतीं, न धर्म के अनेक रूप हो सकते हैं। यह निश्चय है कि धर्म को समझने और प्रयोग में लाने के अनेक और अनन्त मार्ग हैं। धर्म को अनेक प्रकार से देखा जा सकता है और देखा जा रहा है। समय और क्षेत्र की

दृष्टि से धर्म के भिन्न-भिन्न तरीके बना लिये जाते हैं। इन सबमें धर्म का असली रूप किन्हीं अंशों में कायम अवश्य रहता है। उसी तरह अनेकांत को अनेक ढंग से देखा जाता है और उन सब तरीकों में अनेकांत का अंश वर्तमान रहता है। हम आज जैन दर्शन और जैन धर्म ऐसा पुकार कर अपने पूर्ण पुरुषों, सर्वज्ञों और तीर्थंकरों की अवज्ञा कर रहे हैं। ऐसा बता रहे है कि जैसे ईसाई, मुस्लिम, बौद्ध, हिन्दू आदि धर्म हैं; उसी तरह महावीर का प्रशस्त धर्म भी उसी मन्जिल में है। महावीर के अनेकांतमय दर्शन और अनेकांतमय पूर्ण धर्म को हम दूसरे धर्मों की श्रेणियों में गिन रहे हैं। इस तरह जैन धर्म को विश्व धर्म बनाने के स्वप्न देखने वाले व्यक्ति स्वयं कूपमण्डूक बन कर समुद्र को कुएँ के रूप में मान रहे हैं। यही आज के विद्वानों की बुद्धिमत्ता है। दूसरे व्यक्ति या विद्वान भिन्न-भिन्न पंथों को समझने की दृष्टि से वीर के विश्व धर्म को जैन धर्म कहकर पुकारते हैं और हम कुछ कुछ उसे स्वीकार कर धन्य बनते हैं। यही हालत हमारे अनेकांत सिद्धान्त की बना रखी है जो सारी दुनियां की उलझनों को सुलझाने का और अनेक वादों और पंथों का समन्वयपूर्वक हल करने का बल रखता है, उसे भी हम 'वाद' शब्द से सम्बोधित करें—यह कितनी दयाजनक स्थिति है। मैं समझता हूं मेरे उपर्युक्त विश्लेषण के बाद "जैन" कहलाने वाले वीर–धर्म के विद्वान वीर के बताये अनेकांत सिद्धान्त को 'अनेकांतवाद' न कह कर उसके लिये 'अनेकांत सिद्धान्त' का ही व्यवहार करेंगे।

—श्री अमर भारती
फरवरी, १९७२
श्रमणोपासक विशेषांक
अमर भारती

# महावीर का आत्म-दीप और हमारा अनुकरण

सांसारिक कामनाओं का त्यागी, वैरागी, भिक्षुक गणना में आने वाला, श्रेष्ठ संत जृंभक गाव के पास ऋजु बालुका नदी के किनारे शामक नाम के कृषक के क्षेत्र में शालिवृक्ष के नीचे गोदुहासन लगा कर ध्यान में तल्लीन हो, अन्तरात्मभावों में विचरण कर रहा था।

वह समय मदोन्मत कषायांकुर की वृद्धि करने वाली संसार की एक मात्र रमणीय, कांति धारक, मनमोहक, पृथ्वी का शृंगार रचने वाली, स्वच्छाभ्र नभ और श्वेत चन्द्रिका मे अमृत धार बरसाने वाली, कण-कण में मस्ती धुन सवार कराने वाली कामांगिनी वसन्तदेवी-ऋतु का अवसान का था। वह जरा से जरजरित हो जीर्ण हो गई थी। उसके दिन निकट आ लगे थे। प्रकाण्ड ग्रीष्माताप अपनी तेजी को संसार पर छिटकाने के लिये उसकी झुकी हुई गर्दन पर आ धमका था। संसार में अब विभासिता के अंकुर अपनी दुम को जमीन में दबा कर नष्ट हो रहे थे। सूर्य की दिव्य कांति अब मनुष्य के हृदयों में जगह कर रही थी।

ठीक वैशाख शुक्ला १०वीं को संसारी प्रलोभक कर्म शत्रुओं को नष्ट करने वाले, प्रमाद को जड़ोन्मूलन करने वाले तेजस्वी अनन्त

सूर्यरश्मियों के आत्म-दीप के प्रकट होने का महा स्वप्न देखा। यह स्वप्न उस वीर की तीव्रात्म ग्रंथि को भेद कर अनन्त बलशाली चतुष्कर्म रूपघाती शत्रुओं को भेदन करने वाला शुभ चिह्न था। अनन्त ज्ञान-दर्शनमय ज्योति में प्रवेश कराने वाला आत्म-दर्शक-पाषाण रूप था। वास्तव में वह स्वप्न श्रेष्ठतम तेजपुञ्जमय आत्मदर्शन कराने वाला अजीब प्रवाह था।

जैसे सूर्य की तेजस्वी किरणावली को ग्रहण करते-करते वैज्ञानिक महदाग्नि प्रज्ज्वलित कर देते हैं, उसी प्रकार तेजस्वी वीर ध्यान-तप द्वारा अपने आत्मिक तेज की चिनगारियों को बटोरते-बटोरते अनन्त सूर्य रश्मियों के समान तेज पुञ्ज धारण करने वाला बन गया था। मेघाच्छादित चन्द्र जैसे मेघों के दूर होते ही स्वच्छ कांति युक्त बन जाता है, उसी तरह वीर कांति धारक सौम्य चन्द्र बन गया था।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मना।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥

जिसने अन्धकार को ज्ञान रूपी प्रकाश द्वारा आत्मा से दूर हटा दिया है, तत्काल ही उन श्रेष्ठ आत्माओं में ज्ञान-प्रभाव प्रतिभासित एवं स्वयं प्रकाशित हो जाता है।

साधारण भिक्षुक अपनी शरीराकृति में वह राजा से कम मान्य हो सकता है, लेकिन जब उसकी आत्मा दिव्य तेज से आविष्कृत हो जाती है, तब वह देवों और नृपेन्द्रों का वंदनीय और आदरणीय बन जाता है।

अहा! कैसा अद्भुत समय है। संसार का अज्ञानान्धकार आज ज्ञान सूर्योदय के तीव्र प्रकाश से छिपकर कहाँ विलीन हो गया? मन के संकल्प-विकल्पों से दुखितात्मा आज अनन्त सुख की ओर गमन

करने के लिये उद्यत हो गया है। जिसका दास सदैव यह आत्मा बना रहा था आज उस वीर पुजारी ने अपने मन को विकारादि से हटाकर आत्मानुकूल बना दिया है। अब मन जैसी स्वतन्त्र विचरण करने वाली वस्तु और इन्द्रियजनित कोई दुःख आत्मा में रहे ही नहीं। उपनिषदों में कहा है—"तनमनो विलयं यांति तद्विष्णोः परमंपद्म ।। तस्मिन् मनो विलीयते मनसि सकल्प विकल्पे दग्वे पुण्य पाये सदाशिव. ।" शवस्यात्मा सर्वत्रावस्थितः स्वयं ज्योति शुद्धो बुद्धो नित्यो निरंजनः शान्तः प्रकाशयते ।"

इसी तरह वीरात्मा का आत्म दीप स्वयं ज्योति रूप शुद्ध, बुद्ध, नित्य, निरंजन और शान्त प्रकाश से युक्त हो गया। संसार का बंदी स्वतन्त्र हुआ। वीर की ज्योति आनुभविक दर्शनों में लीन हो गई। उद्दाम कामनायें अपने पति के छूट जाने से कहाँ विलीन हो गई ? कुज्ञानी कषायादि रजनीचर अपना समूह लिये न मालूम कहाँ छिप गये ? कहने का तात्पर्य यह है कि वीर का आत्म-दीप आज स्वपर प्रकाशक अनन्त प्रकाश रश्मियों का बिना तेल बत्ती वाला असली तेज छिटक रहा है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकम् ।<br>
नेमा विद्युतोभांति कुतो यमग्नि ।<br>
तसेव भांतमनुभाति सर्वं ।<br>
तस्योनाखा सर्वं मिदं विभाति ।।

क्षण भर के लिये दुनियाई व्यापार बन्द हुए। तीनों लोक में शांति छा गई। देवेन्द्र आकाश मार्ग से नीचे उतरे। अपनी विजय दुन्दुभियों को बजाते हुये लोक को जागृत करने को उद्दत हुये। तीनों लोक में प्रकाश की एक झलक सी छा गई और अनन्त प्राणी मुग्ध दृष्टि से देखने लगे; पर क्षण भर में ही यह दृश्य ओझल हो गया।

यह विस्मय उन जीवों को ही मालूम हुआ और लाभ भी उन्हें ही प्राप्त हुआ जो इसको समझ पाये थे ।

वीरसिंह का केवलात्म दर्शन, चैतन्यस्पर्शन, निजानंदहर्षण तेजपुंजवर्षण और अन्तरात्मभाव विलोकन का वह समय कैसा निकला होगा यह अनुभव उस श्रेणी को पार करने वाले ही कर सकते हैं। हमारे जैसे पोथे-थोथे पण्डित अनुभविक स्थलों का क्या स्वाद बता सकते हैं ?

वीरसिंह ने जिस मार्ग के लिये, जिस ध्येय के लिये, जिस कार्य के लिये, जिस प्रयास के लिये, जिस अनुसंधान के लिये और जिस गुत्थी को सुलझाने के लिये सांसारिक प्रगाढ़ बन्धनों को त्याग कर एक से एक तीव्र आत्म तेज प्रकाशक-तप साधन कर अन्तरात्म गवेषक बन गये थे । उस दिव्यानुभूति का आत्मानुसंधान द्वारा सदनुभव-सद्दर्शन-सद्ज्ञान प्राप्त कर अपने ध्येय को पा लिया । देखते ही देखते दिव्य ज्योति ने (हृद्धाम से निकल कर) शरीर पर कब्जा कर देह को भव्यकृति से भूषित कर दिया । आस पास का प्रदेश अलौकिक आनन्द की लहरों से लहरित हो, मंत्र मुग्ध बन गया । देखते ही देखते दिव्यात्म-दीप-प्रदेश संसार के कण-कण में फैल गये और फैलते ही देवेन्द्रों ने समवसरण रूप विचित्र स्थान की योजना की । अनेक देव, नर, किन्नर, पशु, पक्षी आदि सब प्राणी वीर के चारों ओर चुम्बक की तरह आत्मिक तेज से खिंचे हुये आ जमा हुये । कौन किधर से आया, पता नहीं चला । एक अजीब लहर थी कि सभी को इसी ओर खींच ले आई ।

खैर, यह तो एक साधारण सा वर्णन वीर प्रभु के केवल ज्ञान प्राप्ति के समय का दिया, उनका ज्ञान-दीप कुछ और ही तरह जलाया गया था और हम हमारा अन्धानुकरण वाला दीप अजीब तरह से जलाते हैं, यही दोनों में वैषम्य है ।

वीर-निर्वाण के पश्चात् देवों ने उसके बल ज्ञान की प्राप्ति करन वाले श्रेष्ठ मंत का ज्ञान प्रकाश किस ढंग का था यह बताने के लिये रत्न दीप सारी पृथ्वी पर जलाकर उस वीर का अनुकरण करने के लिये दुनिया को सच्चा रास्ता बताया; क्योंकि वे क्रिया नहीं कर सकते थे, अत: उन्होंने आडम्बर ही कर दिखाया और हम भोले मानव उसकी थोथी नकल कर तेल-दीप, विद्युद्दीप और लक्ष्मी पूजन का श्वेतघृत-दीप जलाकर ही खुश हो जाते हैं।

अब देखिये और तुलना कीजिये वीर का आत्म-दीप, सुरों का रत्न दीप और आपका अप्राकृतिक दीप, इनमें कौनसा दीप श्रेष्ठ है और कौन से दीये की दीपावली मनानी श्रेयस्कर है ?

जैनियो ! जब से ज्ञान-क्रियाभ्याम् की दो आंखों से बने जैनियो और द्विजो-श्रावको ! अव्रती से व्रती बने हुये उपासको ! श्रमणो ! सत्यात्म तेज के अनुयायी ब्राह्मणो ! वाणिज्य-गोपालन आदि कर्मों से बने वैश्यो और संसार की रक्षा करने वाले क्षत्रियो ! क्या क्षतात् (जैन धर्म की क्षत् विक्षत् दशा को देखकर) क्यों नहीं त्रायते-रक्षा करते हो। अब भी अंधानुकरण कर भूले ही जाओगे ? क्या निर्वाणोत्सव दीये जला कर और लक्ष्मी पूजन कर ही मना लोगे ? भयंकर भूलें करते हुये भी प्रायश्चित्त और पश्चाताप का संवेदन भी नहीं करोगे ? २४७२ वर्ष पूर्ण हुए वीर निर्वाण हो चुका; लेकिन उसके बाद कभी किसी ने यह भी सोचा कि वीर ने जैसा कष्ट उठा कर हमारा उत्थान किया था। क्या हम अब भी सेवा योग द्वारा सहयोग कर उसकी अल्पांश की जागरणा कर सकते हैं या नहीं ?

वीर-प्रभु ने तप, ध्यान और त्याग मार्ग द्वारा अपनी अपनी आत्मा का प्रकट प्रदीप जला कर, उस समय के अज्ञानान्धकार को नष्ट कर सद्ज्ञान संवेद का प्रचार किया। सारे हिन्द में क्षत्रिय

प्रचारकों की धूम मचा दी। आज उसके २५०० वर्ष बाद भी प्रकाश-शासन अस्त व्यस्त दशा में भी मौजूद है। उसका तेज आज की रात के दीये से कई हजार गुना, अनन्त गुना बड़ा है। हमें दीपावली को लोक त्यौहार के रूप में ही न मना कर सत्य दर्शन प्रचारक की निर्वाण तिथि–रूप में इस दिन का प्रचार करना चाहिये। इसी दिन गौतम-गणधर को कैवल्य प्रकट हुआ था। वीर के प्रधान शिष्य की मोह-ग्रन्थि छूट कर ज्ञानात्म तेज प्रकाशित हुआ था। क्या हम वीर के अनुयायियों में स्नेह का अत्यल्प प्रकाश भी नहीं प्रकटेगा ?

प्रभो ! आपने स्व प्रकाश से अपना संघ आज दिन तक प्रकाशित बना रखा है, लेकिन हम विरुद्धाचार अनुचर अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करने की अपेक्षा, लक्ष्मी पूजन के झूठे मोह में निर्वाण तिथि को भूल चुके हैं। आपके प्रकट दीप ने दुनिया में प्रकाश फैलाया; लेकिन हमारे दीये अभी धुंधले प्रकाश से, हमारे घर के सम्पूर्ण भाग को भी प्रकाशित नहीं कर सके हैं। हमारे साधु आपकी विद्वेष और मान रूपी तेल के प्रदीप जला कर, उल्टी मति से बेभान हो रहे हैं। उनमें सात्विक शक्ति तो नष्ट हो ही गई है, लेकिन राजसी सत्ता भी नहीं रही है। तामसी बुद्धि ने उन्हें और तुम्हारे संघ को अन्धकार में डाल रखा है। क्या अन्तर्ज्योति जगाने वाला वीर इस जैन शासन को दीपाने के लिये भी कभी प्रकट होगा ? इन मूढ़, बाड़ाबंदी को चाहने वाले पुजारियों को सजग करने वाला वीर कभी पैदा होगा ?

संसार में आज हिंसा का ताण्डव नृत्य बड़े जोरों से हो रहा है। लोग संहार करने पर इतने तुले हुए हैं कि अपने भाइयों की भूख और लज्जा का भी खयाल नहीं कर रहे हैं। किधर तो लाखों करोड़ों का द्रव्य बढ़ रहा है और किधर दीन, हीन, नग्न बने हुए हैं। कहीं दिनोंदिन अकाल–दुर्भिक्ष के कारण मृत्यु के मुख में नित्य जन समा

रहे हैं। कहीं भी शांति के चिह्न नहीं दीखते हैं। आज हमें इसका विचार करना है कि हमें क्या ऐसे मौकों पर मनों तेल जला कर हमारी खुशियां मनाना उचित है या सत्य और अहिंसा के पुजारी को वीर प्रभु का असली निर्वाणोत्सव मनाकर ज्ञान प्रकट करने और चिरशांति प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना ठीक है ?

वीर नवयुवको ! अपना समाज धन-लोलुप बना हुआ है। वीर के तप और त्याग को भूल गया है। गौतम जैसे शिष्य ने निर्वाणोत्सव मनाया था आज हमें उसी तरह सद्ज्ञान का प्रदीप जला कर मनाना है। संसार को शांति-अहिंसा का पाठ पढ़ाकर मनाना है। संसार में प्रज्ज्वलित हिंसा की आग अब शांत करना है। यह कार्य वीर के अनुयायी ज्ञान और क्रिया की दो पांखों वाले जैन युवक ही मनाने में सामर्थ हो सकते हैं। अतः हे नवयुवाओ !

> उतिष्ठोत्तिष्ट निर्भीकः स्फारय ! स्फार ! पौरुषम् ।
> समर्पय निजं योगं समाजोत्थान कर्मणि ।।

आप उठो, उठो, निर्भय होकर अपने पुरुषार्थ को बताओ और अपनी सारी प्रवृत्तियां समाजोत्थान के कार्य में समर्पण करदो।

—जैन प्रकाश
२४-४-४५

# विद्यार्थी-जीवन की दिशाएँ

विद्या चाहने वाला विद्यार्थी होता है। विद्या का साधारण अर्थ ज्ञान है। शिक्षा ही विद्या कहलाती है। ज्ञान मानव की आत्मिक और शारीरिक शक्तियों को विकसित कर समाज में रहते हुए मानव का और समाज का विकास करता है और अन्त में मानव को उच्च स्थान दिला मुक्ति दिलाता है। 'सा विद्या या विमुक्तये' के सही अर्थ को चरितार्थ करता है।

विद्यार्थी का एक जीवन होता है, जो २५ वर्ष की पूर्व की उम्र तक गिना जाता है। यों जीवन भर विद्यार्थी ही रहता है। कितना भी प्रौढ़ विद्वान् हो, कुछ न कुछ नवीन ज्ञान से अपनी प्रज्ञा को विस्तृत करता रहता है। विद्यार्थी-जीवन विद्या प्राप्त करने हेतु होता है और विद्या प्राप्त करना ही उसका ध्येय होता है।

विद्यार्थी-जीवन निश्चित एवं स्वशासी होता हुआ भी अनुशासित होता है। अनुशासन के बाहर विद्यार्थी-जीवन उद्धत, उच्छ्ंखल और आवारा बन जाता है। विद्यार्थी-जीवन में कमाने की और खाने की चिन्ता नहीं रहती और न गृहस्थ जीवन संचालन की धुन या फिक्र ही रहती है, चिन्ता सिर्फ अभ्यास करने की होती है। यदि सही माने में विद्यार्थी जीवन अपनाता है, तो विद्या का अर्जन करना ही विद्यार्थी का मुख्य कर्तव्य रह जाता है।

राजनीति में भाग लेना, सामाजिक व्यवस्था में फैलना,

धार्मिक पचड़ों में फंसना, हड़ताल आदि कार्यों में अगवानी करना और जातीय बन्धनों में अपने को डालना विद्यार्थी-जीवन के कार्य नहीं हैं। विद्यार्थी अपने आप में एक अधूरा व्यक्ति होता है और उसे शिक्षा के माध्यम से पूर्णता प्राप्त करनी होती है। जीवन के लक्ष्य बिन्दु को समझकर उसका प्रशिक्षण प्राप्त कर सफलजीवी बनना है।

विद्यार्थी ज्ञान का अभ्यास क्यों करता है ? यह जब तक समझ नहीं सके, तोता रटन्त और वह भी भार रूप (विद्या ग्रहण में) बन जाता है। रटना और जबरदस्ती से पढ़ना—ये सब कार्य मानसिक दबाव पैदा कर विद्या के प्रति अरुचि पैदा करते हैं। अतः बच्चों में शिक्षा के प्रति भूख पैदा करना परमावश्यक है। जब तक भूख जागृत न हो, खाना भी नुकसानदायी और रोगवर्द्धक बन जाता है। यही दशा ज्ञान ग्रहण की है। जिधर व्यक्ति को जाना है, उस दिशा का बोध होना अत्यावश्यक है। अन्यथा निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति से भटक जाता है। इससे सही मार्ग प्राप्त करना मुश्किल ही है। विद्यार्थी सही माने में शिक्षा का ग्रहण करने वाला है; अतः विद्यार्थी कहलाता है। विद्या की भूख या चाह यदि विद्यार्थी में है, तो वह सही अर्थ में विद्यार्थी है और उसका पढ़ना भी सार्थक है।

बच्चों को पिता विद्याभ्यास के लिए स्कूल भेजते हैं, चूंकि पुत्र को पढ़ाना पिता का कर्त्तव्य है। पढ़ाने से वह कमाने जैसा बन जायगा। पढ़ाना इस समय की परिपाटी है। पढ़ाने की गर्ज से पिता पुत्र के हित पैसा खर्च करता है, दुख उठाता है, पढ़ने के सारे साधन जुटाने में श्रम करता है। नादान बालक को पढ़ने की भूख जागृत नहीं होती है और न पढ़ने के तथ्य को समझ पाता है। इसलिए उसे पशुओं और पक्षियों की तरह अक्षर ज्ञान एवं तोता रटन्त का स्मृति ज्ञान दिया जाता है। इससे कुछ लाभ तो स्वतः हो जाता है और इसी तरह प्रथम सोपान पार कर लेता है और नया जगत् पा लेता है। उसे

पुस्तक के चित्र और अक्षर पढ़ने में मजा आता है तथा धीरे-धीरे वह गायन गाता है और पुस्तक में और क्या है ? यह जानने की धुन में आगे बढ़ता है। इस तरह भी बच्चों में पढ़ने की भूख तैयार की जाती है। दूसरे तरीके में बच्चों को कहानी एवं संसार के वातावरण का ज्ञान देकर विद्या पढ़ना उनके लिए भी आवश्यक है, ऐसी समझ पैदा की जाती है। हर हालत में अच्छे ज्ञानी बनाने के लिए विद्यार्थियों में भूख पैदा करना आवश्यक है। यह भूख यात्रा एवं अच्छे सज्जन व्यक्तियों के संसर्गजनित ज्ञान से भी पैदा होती है।

किसी भी समुन्नत विद्वान् गृहस्थ कुल में जन्मा हुआ बच्चा अपने सामने पाठ्य, दृश्य एवं श्रव्य सामग्रियों को पाकर उस ओर बढ़ने की गति अपने आप करने लगता है। परिस्थितियाँ अनुकूल होने से प्रगति कर लेता है। बच्चा स्वयं उन सामग्रियों के विषय में प्रश्न करता है। ये क्या है ? क्यों हैं ? इनसे मेरा क्या सम्बन्ध है ? ये मेरे किस उपयोग में आ सकती है ? आदि प्रश्न मस्तिष्क में उभरते हैं। वह यह भी जानना चाहता है कि मेरे माता, पिता भाई आदि परिवार के व्यक्ति इनसे इतना क्यों लगाव रखते हैं ? प्रश्न होता है, वहीं उत्तर प्राप्ति भी होती रहती है। ऐसे ही स्वतः बच्चे ज्ञान की तरफ खिंच जाते हैं और पढ़ना तथा बढ़ना दोनों उमंग से करते हैं। इन जिज्ञासाओं में भूख की वृद्धि होती है और सही अर्थ में ऐसी परिस्थिति पा विद्यार्थी विद्यार्थी बन जाता है। साधारण से अधिक पा जाता है और दुनिया को भी दे जाता है।

विद्यार्थी-जीवन में ज्ञान दो प्रकार का माना है। शारीरिक और आत्मिक। सजीव शरीर में अनन्त शक्तिशाली आत्मा में अनन्त और अगाध ज्ञान तथा शक्ति की उपलब्धियां विद्यमान हैं। सद्योग, सुयोग अथवा सहयोग मिलने पर वे साकार हो जाती हैं। बाहर के सारे योग निमित्त मात्र हैं। बाहर से कुछ भी जुटाना नहीं पड़ता है। जो भीतर

जमा है और ढंका है, उसे ज्ञान में प्रकट करना है। विकसित कर जानकारी में लाना और शक्ति स्पन्दन करने का कर्त्तव्य करना ही पढ़ना है और यही कार्य विद्यार्थी-जीवन की सही दिशा है। कर्त्तव्य पथ है। लक्ष्य बिंदु है।

शरीर से पुरुषार्थ कर उपलब्धियां प्राप्त करें, रक्षण करें और फैलावें और जीवनांत में शक्ति सम्पन्न हो, साकार से मुक्त हो, अमर बन जावें—यह बात शारीरिक श्रम की है। व्यवहार में शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम दोनों आत्मिक और सामाजिक विकास मे समान सहयोगी होते हैं। इसीलिए शिक्षाएँ भी दोनों की मानी हैं। शारीरिक शक्तिवाला युद्ध, रक्षण, कृषि, श्रम और प्रजनन वृद्धि कर सकता है। विद्वान् इसमें सहयोग दे सकता है, लेकिन प्राय: विद्वान् श्रमजीवी नहीं होते हैं। उनका ज्ञानमय पुरुषार्थ गिना जाता है। शारीरिक श्रम जितना चाहिए विद्वान् नहीं कर सकता है, लेकिन पूर्ण पुरुष वही है, जो शारीरिक और आत्मिक शक्तियों का पुंज होता है।

विद्यार्थी-जीवन की दिशाएँ शरीर को शक्ति सम्पन्न एव सुदृढ़ बनाने और बुद्धि वृद्धि करने की हैं। वे दिशाएँ हैं जिनकी तरफ बढ़ना आवश्यक है—असत्य से सत्य की ओर, मृत्यु से अमरता की ओर अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा निर्बलता से सबलता की ओर। ये चारों दिशाएँ मानव को पूर्ण सच्चिदानदमय बनाती हैं। समाज को शान्त एवं व्यवस्थित रखती हैं। जीवन ध्येय भी यही है कि जब तक जीवें और जहां जीवें, वहां शान्ति और व्यवस्था हो, जीवन निर्बाध गति से प्रवाहित हो। अभाव-अभियोग का नाम न रहे। सभी साधन सम्पन्न बनें और सबके साथ स्वयं साधन सम्पन्न बने। ऐसे ही लक्ष्य उत्तम जीवन जीने के हैं। ऐसी दिशाओं के नाम—पौरुष, सदाचार और अमरता है। विद्यार्थी-जीवन इन्हीं दिशाओं की ओर बढ़े, यही उसका कर्त्तव्य है। इसी से सच्चिदानन्द बन सकते हैं। सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का पथ भी यही है।

जिनका विद्यार्थी-जीवन ऊपर की दिशाओं की तरफ बढ़ने का नहीं है, वे विद्यार्थी स्वयं दुःखी जीवन व्यतीत करते हैं। दुःखी होते हैं और समाज में भी दुखमय वातावरण फैलाते है। जैसे आज का बुद्धिमान विद्यार्थी अपने को मानवता का सर्वेसर्वा अधिकृत अगुआ मानकर राजनैतिक नेताओं के चक्कर में फंसकर, विद्यार्थी जीवन के कर्त्तव्यों को भुला देता है और जगह-जगह प्रदर्शन, हड़तालें, आगजनी एवं अन्य जन-धन का नुकसान करता नजर आता है। ये प्रवृत्तियां विद्यार्थी-जीवन की नहीं है। इससे विद्यार्थी सही शक्तियों का सम्पादन नहीं कर पाते। जीवन स्वयं अपने हाथों ग्रस्त व्यस्त बनाते हैं और सामाजिक जीवन को भी विश्रृंखल करते हैं।

**जगत् में शिक्षा ग्रहण के प्रारूप ये हैं :**

शारीरिक शक्ति संपादन करने के लिए व्यायाम, आसन, खेल, नृत्य एवं गीत का अनुगमन करना आवश्यक है। आत्मिक शक्ति के लिए इनके अलावा वाचन पृच्छन, प्रहसन, विनोद, वाद-विवाद, आविष्कार, संवाद एवं यात्रा आदि बुद्धि वृद्धि के सारे प्रयोग करना चाहिए। जो विद्यार्थी जीवन को आनन्दित एवं सफल बनाना चाहें, वे उपरोक्त तरीकों से विद्या सम्पादन करें। गुरुओं के सम्पर्क में अनुशासित रहकर अपना शारीरिक एवं आत्मिक वैभव प्राप्त करें। उनकी जीवन दिशाएं विद्या प्राप्ति में आगे बढ़ें। विनय, सदाचार और अनुशासनादि वृत्तियों को अपनावें तथा "काकचेष्टा बको ध्यानम्। श्वान निद्रा तथैव च। अल्पाहारी, विषय त्यागी, विद्यार्थी पंच लक्षणम्।" कौआ जैसी चेष्टा करें, बगुले के समान पढ़ने में ध्यान लगावें। कुत्ते के समान सदा जागृत रहें। अल्पाहार करें और विषय विकार एवं वासनाओं के त्यागी बनें।

उपरोक्त पांच प्रकार की वृत्तियां प्रज्ञा, पौरुष, सदाचार और अमरता की दिशाओं की ओर प्रगति कराती हैं। अतः विद्यार्थी-जीवन के कर्त्तव्य एवं विद्यार्थी-जीवन की दिशाएं आज का विद्यार्थी भली

भांति सीखले, समझले और अनुसरण करले, तो विद्यार्थी अपने भावी जीवन, समाज, धर्म और राष्ट्र को यथेष्ठ प्रगति साधक एवं समुन्नत बनाने में योग दे सकते हैं। विद्यार्थी ही भावी राष्ट्र के निर्माता हैं। यदि विद्यार्थी उछृंखलता की ओर बढ़ते रहें और कर्त्तव्य को भुला प्रोपेगेण्डे में उतरते रहें, तो स्वयं नष्ट हो जायेंगे और राष्ट्र को भी नष्ट कर देंगे।

स्वार्थजीवी राष्ट्र, स्वार्थजीवी मानव, स्वार्थजीवी समाज एवं स्वार्थजीवी धर्म एक न एक दिन समाप्त होकर रहेगा। संसार की जितनी वस्तुएँ हैं सबके लिए उपलब्ध होनी चाहिए, समान रूप से उपलब्ध होनी चाहिए और उपभोग में भी समानता होनी चाहिए। जिस दिन इस प्रकार का व्यवहार होगा। स्वार्थ नष्ट होगा और परमार्थ की भी आवश्यकता नहीं होगी। श्री, ऋद्धि, वृद्धि एवं आरोग्य सब इसी पृथ्वी पर उतर आवेंगे। शांति और आनन्द का अनुभव संसार करने लगेगा। अतः मैं पुनः विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित करता हूं कि आप जो चाहते हो, वह आपको जानना और समझना पड़ेगा। बिना समझे आपकी चाह की पूर्ति करने में उद्यम और दिशाओं की ओर बढ़ना निरर्थक होगा। जिस लभ्य वस्तु की चाह है, वह तभी मिलेगी जब स्वयं आप उस रूप में ढलने और उस ओर बढ़ने का प्रयत्न करेंगे।

पुनश्च आपकी जीवन दिशाएं पौरुष, प्रज्ञा, सदाचार एवं अमरता प्राप्त करने की हैं और उस ओर प्रगति करने के लिए सतत् जागृत रहना तथा अनुशासित विनयपूर्ण सदाचार का वरण करना अत्यावश्यक है। विशृंखल वृत्ति मार्ग से भटका देगी और जीवन को लक्ष्य से दूर कर देगी। आप सभी सुख चाहते हैं, जीवन को आनन्द से व्यतीत करना चाहते हैं, तो स्वयं वैसा ही बर्ताव अन्य के साथ करें जिससे उन्हें भी शांति एवं सुख की प्राप्ति हो। इस तरह परस्पर के सद्व्यवहार से आप इच्छित वस्तु प्राप्त कर सुखी जीवन बना सकोगे।

—आलोक वार्ष्णेय

# विद्यालय के पञ्चाङ्ग

पूर्वात्य और पाश्चात्य सभ्यता में और सभ्यता के विकास में विद्या प्रचार का बड़ा महत्व रहा है। ज्ञान ही उन्नत सभ्यता का माप-दंड है। जहां शिक्षा प्रचार अधिक उन्नत हैं, वहां की सभ्यता भी आदर्श मानी जाती है। शिक्षा के विकास में सारी दुनिया की दौड़ में होड़ लगी हुई है। यह निश्चित है कि भारत भी शिक्षा की दौड़ और होड़ में सम्मिलित है।

जगत् में ज्ञान प्रसार के साथ सभ्यता का विकास होता आया है। सभ्यता में शिष्टता समाई हुई है और शालीनता और शील, सदाचार तथा नीति सभ्यता के प्रतीक माने जाते हैं। ज्ञान के साथ सदाचार की भी आवश्यकता होती है। उदण्ड शिक्षक और शिक्षार्थी सभ्यता का नाश करते हैं। असभ्य और सभ्य मानव में सदाचार का ही अन्तर है। जगत् में अनुशासन तथा व्यवस्था ही शान्ति और श्रम का आधार है। उन्नति का पथ है। प्रशस्त पथ, बिना व्यवस्था के बन नहीं सकता।

प्राज्ञ पुरुषों ने विद्याध्ययन कराने के लिए शिशु और बालकों को ही चुना है। किशोर और प्रौढ़ मानवों को कार्य-क्षेत्र का श्रमिक समझा है। आज शिशु, बालक, किशोर और प्रौढ़ सब विद्यार्थी बनने के पात्र माने हैं और हैं भी। इनके शिक्षण के लिए भिन्न-भिन्न ढङ्ग के स्कूल हैं, विद्यालय हैं और प्रशिक्षण केन्द्र हैं।

विद्या प्रचार में विद्यालय एवं प्रशिक्षण केन्द्र बड़े सहायक हैं।

विद्यालय हों या प्रशिक्षण केन्द्र, सब में ५ अंग होते हैं। पंचाङ्ग जहां शुद्ध और सहायक है, वहां का कार्य प्रशस्तकारी होता है, सफल होता है और स्मरणीय बनता है। पंचाङ्ग का पूर्ण योग ही सिद्धि का साक्षात्कार है। पंचाङ्ग पूर्ण विद्यालय होता है। पंचाङ्ग का पूर्ण रूप विद्यालय की पूर्णता है।

पंचाङ्ग इस प्रकार हैं:—(१) आचार्य (२) अध्यापक (३) सहयोगी श्रमिक (४) विद्यार्थी और (५) संरक्षक

**आचार्य:**—शिक्षालय का संचालक, प्रधान गुरु होता है। उसी के नियन्त्रण में शाला तथा शिक्षा का संचालन होता है। उसी के अनुभव पर शिक्षा शैली और पाठन-क्रम निर्धारित किया जाता है। व्यवस्था बनाई जाती है। उसकी पीठ पीछे अनुभवी और अर्थ सहायक मानवों की समिति होती है, जिसे पीठ या संस्थान अथवा संघ नाम से पुकारा जाता है। आचार्य अपने अनुभव के आधार पर संस्था की रीति-नीति निर्धारित करता और प्रचलित करता है, अध्यापक उसका अनुकरण करते हैं। आचार्य की निर्धारित शिक्षा-व्यवस्था को कार्य रूप में परिणित कराने वाला अध्यापक होता है।

अध्यापक और विद्यार्थी का सीधा सम्बन्ध शाला में होता है और गुरु शिष्य के रूप में बन जाता है। इस सम्बन्ध की माला आचार्य कहलाता है। अनेक अध्यापक-पुष्पों की बनी हुई माला आचार्य बन जाता है अथवा आचार्य पुष्पहार का धारण करने वाला बनता है। आचार्य की शोभा अध्यापक हैं और अध्यापक, आचार्य के अंग पर ही शोभित हो सकते हैं। बिना अंकुश के उनका नियंत्रण में चलना और कार्य करना कठिन ही है। अतएव आचार्य प्रथमाङ्ग है।

**उपाध्याय:**—अध्यापक, मास्टर, उस्ताद, गुरु और शिक्षक इसी के अर्थ सूचक शब्द हैं। प्राध्यापक, वरिष्ठ अध्यापक, प्रचेतक, प्रशिक्षक

आदि शब्दों का प्रयोग भी उच्चाभ्यास में इसी कार्य को करने वाले के लिए होता है। सीधा सम्बन्ध विद्या पढ़ने वाले के साथ अध्यापक का है। अध्यापक पाठन का पूर्ण जिम्मेदार है। इसलिए अध्यापक को श्रुतिनिष्ठ, विद्याध्ययनी, विद्याव्यसनी, कार्यकुशल, चुस्त और शिक्षा-प्रेमी होना अत्यावश्यक है। सदाचारी और निर्व्यसनी होना भी पूर्णा-वश्यक है। सबल तथा श्रमी अध्यापक, श्रेष्ठ नागरिक, राष्ट्र-सेवक और सबल विद्यार्थी का निर्माण करता है। अतएव गुरु का धर्म गुण-सम्पन्न होना परमावश्यक है।

**सहयोगी श्रमिकः**—वे कर्मचारी हैं; जो विद्याध्ययन की सामग्री व्यवस्था में योग देते हैं। व्यवस्था करते हैं। व्यवस्था के साधन जुटाते हैं और उपाध्याय विद्यार्थी तथा आचार्य की सेवा में जुटे रहते हैं। इनके बिना विद्यालय का कार्य ठप्प हो जाता है। ये चतुर्थ श्रेणी कर्म-चारी गिने जाते हैं, लेकिन हैं वे तृतीय श्रेणी में। वे अनुभवी और कार्यकुशल हों, तो सबकी व्यवस्था और पाठन-कार्य में उनका हाथ रहता है। सदाचार में उनकी देख-रेख होती है। इस अंग का अच्छा, सुशील, कार्यदक्ष, सदाचारी और निर्व्यसनी होना परमावश्यक है। विद्यार्थियों की वृत्तियों पर इनकी भी देख-रेख रहती है।

**विद्यार्थीः**—विद्यालय का प्रधान और आवश्यक अंग हैं, जिसके निमित्त और हित विद्यालय की रचना होती है। इनके बिना विद्यालय सूना होता है। इस अंग के लिए विद्यालय तथा दूसरे चारों का निर्माण होता है। विद्या का चाहने वाला विद्यार्थी होता है। विद्या-प्रेमी और विद्या व्यवसनी ही विद्यालय के नाम को उज्ज्वल करता है। शेष शिष्य तथा पाठक बन जाय तो उससे कोई विशेष स्थिति नहीं बन पाती। विद्यार्थी का आज्ञानुयायी और अनुशासन में रहना परमावश्यक है। उच्छृङ्खलता सभ्यता और शासन का नाश करने वाली होती है। विद्या "विनयेन शोभते" विद्यार्थी की शोभा विनय से है। विद्याग्रहण का कार्य

विद्याभ्यसनी नम्र छात्र ही कर सकता है। आज के विद्यार्थी नेता और संरक्षकों की स्वार्थ-पूर्ति के अंग बन जाते हैं। यही कारण है कि आये दिन संस्थाओं में स्ट्राइकें और दंगे होते रहते हैं। आज गुरु शिष्य का प्रेम का नाता नष्ट प्राय: है। गुरु अपनी ड्यूटी पूरी करता है; विद्यार्थी अपनी हाजरी भरा देता है। दोनों में आपसी स्नेह, मान-मर्यादा और पढ़ने-पढ़ाने की वृत्ति नहीं रही है। गुरुभाव विद्यार्थी से दूर हो गये हैं और शिष्य-भाव गुरु से दूर हो गये हैं। इसीलिए आज की शिक्षा मानव जीवन के लिए अहितकर है। विद्यार्थी को योग्य पात्र, विद्या ग्रहणकर्ता तथा आचारवान होना आवश्यक है। अपनी रुचि के अनुसार विषय में गति करने का श्रमिक भी होना आवश्यक है। गुरु तथा गुरुकुल के वातावरण को विद्यार्थी प्रधानता दें तथा राजनैतिक पार्टियों के चक्कर में नहीं पड़ें, यह परमावश्यक है। विद्यार्थी के लिए ही विद्यालय है। अतएव विद्यालय की हर प्रवृत्ति में विद्यार्थी की अनुकूलता होना आवश्यक है; इसीसे उसकी और विद्यालयकी प्रतिष्ठा है।

**संरक्षक**:—आज का संरक्षक गैर बनता जा रहा है। विद्यार्थी का पालक "संरक्षक" कहलाता है। उसका सहयोग वांछनीय ही नहीं अपितु अत्यावश्यक है। संरक्षक पाठन सामग्री न दे, समय पर पढ़ाने न भेजे, विद्यार्थी की घर पर पढ़ाई और आचरण की देख रेख न करे, तथा शारीरिक स्वास्थ्य का ख्याल न करे, तो विद्यालय की प्रतिकूलता बढ़ती जाती है। विद्यार्थी विद्या और चारित्र-लाभ से वंचित हो जाता है। यदि संरक्षक अध्यापक के विरुद्ध आचरण या व्यवहार करावे, बदले की भावना से उकसावे, अपने स्वार्थ-हित अनुशासन और व्यवस्था बिगाड़ने में विद्यार्थी का दुरुपयोग करे, तो विद्यालय की व्यवस्था और शान्ति खतरे में पड़ेगी ही। संरक्षक और गुरु दोनों बच्चे के हित-चिन्तक और आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले होने चाहिए। संरक्षक और गुरु का सहयोग तथा देख-रेख की जिम्मेदारी बराबर होती है।

विद्यालय की उन्नति संरक्षक के सहारे ही हो सकती है। संरक्षक सबसे अधिक जिम्मेदार व्यक्ति है, जिसे विद्यालय की पीठ कहना चाहिए। जो जिम्मेदारी को महसूस करता है, वही संरक्षक होता है।

विद्यालय की उन्नति और प्रशस्ति में पंचांग की पूर्णता, स्वस्थता और सबलता तथा अनुकूलता बड़ी सहकारी होती है। पंचाङ्ग ही विद्यालय हैं। पंचाङ्ग ही विद्यालय का असली रूप है। अतएव पंचाङ्ग का सम्मिलन परमावश्यक है। विद्यालय का श्रेय पंचाङ्ग के सम्मेलन में है।

—आलोक वार्षिकी

# आधुनिक धार्मिक-शिक्षा
# और
# जैन-समाज

## [ धार्मिक शिक्षा की वर्तमान स्थिति पर लेखक की दर्द-कथा ]

शिक्षा, व्यवहार और आत्मिक दर्शन को प्रशस्त करने के लिए एक आवश्यक मार्ग है जिस पर चलना प्रत्येक सुज्ञ मानव का परम कर्त्तव्य हो जाता है। विद्या और शिक्षा के दो शब्दों को पृथक् रूप से समझने का प्रयास भी अनुकूल है। ज्ञान जिसके द्वारा प्राप्त हो वह है विद्या। विद्या वही अच्छी है जिससे मुक्ति मिले, शान्ति मिले, और व्यवस्था बनी रहे। शिक्षा से विद्या और आचार दोनों की प्राप्ति होती है। विद्या से आगे के लिए बढ़ने में शिक्षा परमोपयोगी है। विद्या से शिक्षा का दायरा कुछ बड़ा है और शिक्षा ज्ञान तथा चारित्र के लिए अंकुश रखने, संयमित करने और उज्ज्वल बनाने में बड़ी उपयोगी है।

शिक्षा का दूसरा अर्थ व्यवस्थाजनक दण्ड भी होता है। सीख, शिक्षा का अपभ्रंश शब्द है। इससे सूझ, मार्ग-दर्शन, तर्जना, ताड़ना, दण्ड देना और व्यवस्थित करने सभी काम पूर्ण किये जाते हैं। 'शिस्त पालन करना' शिक्षा देने के अर्थ में मराठी भाषा में प्रयुक्त होता है।

व्यवहार और व्यवहार से तथा आत्मा से सम्बन्ध रखने वाला शान्ति और व्यवस्था का प्रतिष्ठापक मार्ग धर्म के नाम से व्यवहृत होता है। शिक्षा के साथ धर्म का योग देने से धार्मिक शिक्षा की उत्पत्ति होती है।

धार्मिक शिक्षा इस युग का एक ध्येय बन गया है। इस शब्द से आज के युग के मानव चिढ़ गये हैं। धर्म शब्द बड़ा अप्रिय लगता है। इसका कारण धर्म के नाम से पनपने वाले अनेकविध-पंथ-संप्रदायें हैं। जो एक दूसरे मार्गों की निन्दा करती हैं और अपने मार्ग की प्रतिष्ठा कर लोगों में भिन्नता का बोध और प्रचार कर, संप्रदायों का गठन कर, मतप्रचार करती हैं। सच्चे अर्थ में धर्म को समझकर मानवों में प्रसारित करना इस समय बड़ा विकट हो गया है। मुस्लिम और ईसाई, सिक्ख और हिन्दू, बौद्ध और जैन सभी अपनी-अपनी मान्यता का शिक्षण देने में धार्मिक शिक्षा का देना मानते हैं। सर्वतोमुखी धर्म का ज्ञान देना या सभी पंथों की मान्यता का बोध कराना बहुत कम पसन्द करते हैं। चूंकि वे सम्प्रदायें अपने-अपने नियमों से बंधे हुए मानवों का बाड़ों से (सम्प्रदायों से) बिखर जाना सोचते हैं। पंथ-शृंखला का टूटने को भय बना रहता है। संगठन के टूटने से उनके सम्प्रदाय ही नष्ट हो जाते हैं। मताग्रही और मान के पुजारी ऐसा करना कभी पसन्द नहीं करते। धार्मिक शिक्षा सभी सम्प्रदाय वाले बच्चों को और बड़े अनुयायियों को देना आवश्यक समझते हैं और देते हैं। इसी से भिन्न-भिन्न पंथ स्थिर बने हुए हैं और आगे भी बने रहेंगे। इन सम्प्रदायों में जैन भी एक मार्ग है, जो समन्वय के सिद्धान्तों को मानते हुए भी समन्वयी नहीं बन पाया है। जैनधर्म की दुनिया को शिक्षा देना यह पंथ अपना कर्त्तव्य समझता है। अपने मार्ग को शिक्षा देना दूसरों की तरह सही दिशा में जाने वाला मानता है।

मैं जैनधर्म की शिक्षा से धार्मिक शिक्षा के अभिप्रायों को लेकर जैन-समाज के सम्बन्ध और उसके द्वारा होने वाला लाभ और अलाभों पर विचार करूँगा।

आज का जैन-समाज धन के पीछे आगे गति कर रहा है और धर्म को एक साधारण सहयोगी स्वीकार करता है। धन के लिए प्रयास करने के लिए व्यवहार, शिक्षा और दीक्षा का अवलम्बन लेना ही अधिक पसन्द करता है और उसी तरह बढ़ रहा है। कुछ विद्वान् सन्त मुनिराज उनको बार-बार प्रेरणा देते हैं और ध्यान आकर्षित करते हैं तो ऊपर के मन से भी कुछ प्रदर्शन करना उचित समझते हैं और प्रदर्शन मात्र का कार्य ही जैन समाज में 'धर्म शिक्षा' देने का हो रहा है। यह मेरी दृष्टि से सही हो सकता है—इसीलिए मैं लिख रहा हूँ।

मेरी धार्मिक शिक्षा देने का कार्य विगत ४२ वर्षों से चल रहा है। धर्मज्ञान-चारित्र को व्यवहार तथा आत्मा के कुछ हिताहित का बोध हो, इसी अर्थ रूप में ग्रहण करता हूँ। मैंने बच्चों को, बच्चियों को और युवकों को भी सामायिक, प्रतिक्रमण, स्तोक, स्तोत्र आदि रटाये सिखाये और अर्थ समझाये। बहुत कम लोग उन्हें जिन्दगी भर याद रख पाते हैं। फिर भी मेरा अनुभव है कि दिया हुआ ज्ञान कभी नष्ट नहीं होता। थाती रूप में सूक्ष्म परिणाम में भी कायम रहता है और वह कभी-कभी जीवन की सुगन्ध रूप में परिणित होकर आत्मिक शान्ति का लाभ देता है।

धार्मिक शिक्षा सभी बन्धुओं के लिए अनिवार्य है। ऐसा मैं मानता हूँ और दर्द पूर्वक समाज के सामने रखता हूँ। जैन संस्कृति की रक्षा हेतु भी धार्मिक शिक्षा अनिवार्य है। समाज की गति विचित्र है। जो पैसे वाले और अधिक शिक्षित हो जाते हैं वे छात्रवृत्ति द्वारा उच्च-शिक्षण दिलाने में अपने पैसे का और अपनी शिक्षा का सदुपयोग मानते हैं। सच्चे रूप में धार्मिक शिक्षा देना पसन्द ही नहीं करते हैं।

इस समय समाज में दो तरह के मानव और दो तरह के विचार के संत मुनिराज हैं। श्रावकजन दो विचारों के टुकड़ों में बँटे हुए हैं। एक विभाग चाहता है कि हमारे बच्चों में धार्मिक संस्कार पनपे और समाज में नीति तथा आध्यात्मिक वाद का प्रसार हो। दूसरा विभाग चाहता है कि "यह सब पोपलीला है। मानवों का धर्म एक है और मानव धर्म के अनुकूल चलना हमारा कर्तव्य है। धर्म की शिक्षा से बच्चे भोंदू बनते हैं और व्यवहार में असफल हो जाते हैं। आज के विज्ञान के युग में निरन्तर आगे आविष्कार करना और जनता को सुविधा पहुंचाना सच्चा धर्म का कार्य है। मांस आदि का खाना, शराब आदि का पीना धर्म में बाधक नहीं हो सकता। धर्म शब्द से वे यही अर्थ लेते हैं कि हम दुनिया की भलाई के लिए कुछ कार्य करें, अपना स्तर भी ऊँचा उठाकर दुनियाई सभी भोगों-उपभोगों का यथेच्छ लाभ प्राप्त करें। इस लोक के प्राप्त साधनों का उपयोग न कर परलोक-प्राप्ति के लिए इस समय में उनका त्याग करना भयंकर मूर्खता है।" ऐसे विचार वाला विभाग अधिक पठित और चालाक चुस्त है। वही समाज पर शासन कर रहा है। क्रिया का पालन चाहता नहीं है फिर भी समाज के ऊपरी स्तर पर बैठा हुआ शासन कर रहा है। धार्मिक ज्ञान नहीं होते हुए भी समाज की बड़ी संख्या का शिरोमणि बना हुआ है।

आचार-सम्पन्न धार्मिक शिक्षा प्राप्त पंडितों को बुद्धू समझ कर उनकी कद्र समाज नहीं कर रही है। अतः धर्म शिक्षा का ह्रास होता जा रहा है। सन्त मुनिराज भी अपने पाखण्ड के प्रचार और प्रदर्शन में इस शिक्षा की तरफ अधिक रुचि नहीं ले रहे हैं। एक बोर्ड बना रखा है। जगह-जगह धार्मिक-स्कूल खोले जाते हैं और कई जगह चल भी रहे हैं। शिक्षा और परीक्षा के कार्य बराबर चालू है। फिर भी परिणाम में जीरो (०) डिग्री तक पहुँच जाता है। धर्म की शिक्षा बेगार की तरह दी जाती है और ग्रहण की जाती है। २० वर्ष पहले

की धर्म की भूख अब नष्ट हो गई है। डॉक्टर की तरह जबरदस्ती हलक में धर्म की दवा उतारी जाती है। कभी-कभी उसके हानिकर परिणाम भी सामने आते हैं। शिक्षक धर्म का परीक्षा-परिणाम (पढ़ाने से भी अत्यधिक-प्रदर्शन करने हेतु) ऊँचे बनाने के लिए पुस्तकों की नकलें कराता है। बच्चों में चोरी के संस्कार पनपते हैं। धर्म-भावना की जगह धर्म की शिक्षा के प्रति अरुचि पैदा हो जाती है और जो कुछ पढ़ने की भावना होती है वह भी नष्ट हो जाती है।

धार्मिक शिक्षा देने का महत्त्व आज का युग पसन्द नहीं करता है। संत, धनिक और गुरु वर्ग इस शिक्षा का ऊपर से हामी हैं। भीतर से विरोधी हैं। कोई भी ऐसा सुनना पसन्द नहीं करता कि वह धर्म शिक्षा नहीं चाहता। इसी कारण टीपटाप कर दिया जाता है। धर्म शिक्षा के प्रति रुचि पैदा करने के लिए इनाम रखे जाते हैं लेकिन ये इनाम भी शिक्षा के लिए उल्टे असरकारक बनते हैं। किसी भी तरह इनाम प्राप्त करने की भावना से बच्चे गलत रास्ते अपनाते हैं और धर्म से विमुख बनते हैं।

जैन समाज प्रथम तो संगठित नहीं है। द्वितीय धर्म के नाम से धतींगें जैन समाज में बहुत चल रहे हैं। श्वेताम्बर, दिगम्बर, तेरापंथ, तारणपंथ, स्थानकवासी आदि अपने-अपने संघ के अलग-अलग धर्म शिक्षा के साधन अपना रखे हैं। अपनी-अपनी जड़ मान्यता के अनुसार शिक्षा देना चाहते हैं और दे रहे हैं। सभी के अलग परीक्षा-बोर्ड हैं। परीक्षा के अलग पाठ्यक्रम हैं। अध्यापन के मार्ग भी भिन्न-भिन्न हैं। जैन-समाज एक छोटा-सा मानव समुदाय होते हुए भी इसके अनुयायी अर्थशास्त्री अधिक हैं। वे देना कम चाहते हैं और लेना अधिक चाहते हैं। ऐसी मनोवृत्ति का पूरा प्रभाव है। अतः इसमें धर्म भावना की जागृति खालिस आदान-प्रदान रूप या लोभ के रूप में है। लोभी के गाँव धूतारा भूखे नहीं मरता है। इस तरह की हालत हमारे श्रावकों और साधुओं की है।

साधु नये-नये थतीगे और व्यर्थ पैसे खर्च कराकर नाम कमाने के काम बढ़ाते जा रहे हैं । उपधान, तप, प्रतिष्ठा महोत्सव, वर्षीतप महोत्सव, दीक्षा महोत्सव, स्थानक प्रतिष्ठा महोत्सव आदि में मोक्ष और स्वर्ग की सीढ़ियों का लोभ फैला रखा है । धर्म का रहस्य कर्म काण्डों, प्रदर्शनों और आपसी साम्प्रदायिक विरोध प्रचारों तथा अपने-अपने पथ को सत्य का पूरा पोषक, मोक्ष का दाता साबित करने में बताने वाला श्रावक और साधु वर्ग वाला वर्तमान जैन समाज है ।

धनिक वर्ग अपने परिवार में विलासिता का वातावरण बढ़ाता जाता है और गरीबों के परिवार में धार्मिक शिक्षा के प्रचार के लिए कुछ धन-दान करके स्वर्ग में जाने का ठेका ले लेता है । वहाँ जैन-समाज में धार्मिक शिक्षा का क्या महत्त्व हो सकता है ?

छात्रालय में ही मदद देना, उच्च शिक्षा के लिए ही छात्रवृत्ति देना तथा विज्ञान में जैन बच्चों को आगे बढ़ाना इस तरफ पठित धनिकों की रुचि अधिक रहती है । विदेशों में जैन बच्चों को भेजने से जैनियों की इतर समाज में कद्र होगी । ऐसा ढंग जमा रखा है । पैसों के बल पर सामायिकें खरीदी जाती हैं । दीक्षाएँ दी जाती हैं । मुंडन के बाल, ओघे, पात्रे और वस्त्र बोलियों पर चढ़ाये जाते हैं । उस समाज में 'धर्म शिक्षा' का क्या महत्त्व है ? यहीं उसका प्रदर्शन हो जाता है ।

आज की समाज की स्थिति में दर्शन-शास्त्रियों, धर्म-विशारदों और क्रियाशीलों की कद्र बिल्कुल कम है । धनवानों की, चालबाजों की अथवा व्यवहार-ज्ञान विशारदों की पूछ ज्यादा है । समाज का संरक्षण संत मुनिराजों ने धनवानों के हाथों सौंप रखा है । कारण धनिक वर्ग साधुओं की तारीफ कर देता है पुस्तकें छपा देता है, उत्सव करा देता है और मनचाहा दुनिया में नाम का यश दिलाने के लिए पैसा पानी

की तरह बहा देता है और उसके बदले में साधु-समाज आगे के लिए स्वर्ग के द्वार खोल देता है, तीर्थंकर गोत्र बांधने का आश्वासन दे देता है और जहां जाता है तारीफ के पुलन्दे बांध देता है। इस तरह "परस्परा: प्रशंसन्ते अहो रूपम् अहो ध्वनि:" वाली कहावत चरितार्थ कर रखी है। ऐसा जैन समाज किस तरह सही माने में धार्मिक शिक्षा का पूर्ण आदर कर सकता है ? यह सही स्थिति है।

मैं अपने अनुभव से सही स्थिति बता रहा हूं फिर भी समाज मे धार्मिक शिक्षा की परमावश्यकता महसूस करता हूं और छोटे-छोटे बालक-बालिकाओं में धार्मिक अंकुर पैदा कराने का बड़ा हामी हूं। मैं यही काम कर रहा हूं जो आगे जाकर हमारी जैन संस्कृति के रक्षा करने वाले सिद्धान्तो के प्रति श्रद्धा रखने वाले और शुद्ध निरामिष भोजी जैन सन्तान बनाये रखने मे कारगार हो।

मैं जैन-समाज के अग्र नेताओं को आह्वान करना चाहता हूं कि आपकी भावी पीढ़ी इस विज्ञान युग में सस्कृति-रहित बनती जा रही है। आप जगह-जगह व्यवहार ज्ञान के साथ धार्मिक-ज्ञान देने वाली सस्थाओं की स्थापना करें। शिक्षा और दीक्षा दोनों का कार्य समाज अपने हाथ में लेवे। व्यवहार शिक्षा भी हमारी देखरेख में होवे यह अत्यावश्यक है। शिक्षक आचार-सम्पन्न निरामिष-भोजी, निर्व्यसनी और धर्म के प्रति श्रद्धाशील हो, ऐसा व्यक्ति चाहिए। जैन-समाज को उस रास्ते पर आना जरूरी है कि सभी सम्प्रदायें अपने-अपने कर्म-काण्ड के प्रदर्शन तत्काल रोक दें। साधुओं को अच्छे क्रियाशील बनावें। पाखण्डी साधुओं को समाज से तिरस्कृत करें। सबसे अधिक अधंकार और द्वेषाग्नि ये पाखंडी फैला रहे हैं। दिगम्बर, श्वेताम्बर, साधुमार्गी तथा अन्य कोई सम्प्रदायें भिन्न नहीं हैं। जैनत्व की भूमिका पर हम सब जैन एक हैं। इस समन्वय की दृष्टि को नष्ट कर एकान्त-वादी बनाकर हमें धर्म से च्युत कर रहे हैं। सैद्धान्तिक मतभेद धार्मिक

शिक्षा पर कोई असर नहीं करते। नवकारमंत्र, ईशस्तुति, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शील और अपरिग्रह की शिक्षा में, अणुवाद, स्याद्वाद और कर्मवाद की शिक्षा में किसी सम्प्रदाय का कोई भेद नहीं है। महावीर के सिद्धान्त जगत् की सभी सम्प्रदायों को एक करने के लिए सबल हैं। दुःख है कि जैन समाज अपने सम्प्रदायों को एक करने के लए एक ढंग की धर्म-शिक्षा का प्रबन्ध अपने भावी बच्चों के लिए नहीं कर सका। मैं ऐसी संस्थाओं, संचालकों, साधुओं, प्रचारकों और तत्वज्ञों की सेवा की कद्र करता हूं जो साम्प्रदायिक विष को दूर कर सबको एक शिक्षा-स्थल में भरती कर समान शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था करते हैं और जैनों का एक समाज रूप बनाने में निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। धार्मिक शिक्षा की प्रवृति-रुचि और कद्र के विषय में समाज के कर्त्तव्य के प्रति निम्न सुझाव प्रस्तुत करता हूं :—

१. सारे जैन-समाज में धार्मिक शिक्षण, सिद्धान्त, तत्वज्ञान और आचार पर बल दिया जाय। कर्मकाण्ड (भिन्न सम्प्रदाय की भिन्न प्रकार की क्रियायें) का शिक्षण अपने परिवार से स्वयं प्राप्त करें।

२. प्रत्येक गाँव व नगर में धार्मिक शिक्षणशाला हो और व्यावहारिक शिक्षण के साथ धर्म-शिक्षा अनिवार्य हो।

३. राजकीय विद्यालयों में संस्कृति नष्ट होती देखी जा रही है अतः व्यवहार शिक्षा के स्कूल भी अपनी देखरेख में राजकीय मदद से चलाये जावें। उसमें चरित्रशील, निर्व्यसनी, निरामिषभोजी अध्यापक अध्यापन का कार्य करें।

४. खालिस स्कॉलरशिप देकर झंझट से बरी होने का तरीका गलत है। विदेशों के उच्च शिक्षण के बारे के आर्थिक सहयोग के लिए भी संस्कृति-रक्षण की शर्तें आवश्यक रखी जायें।

५. प्रत्येक जैन परिवार धार्मिक शिक्षा का पेय पदार्थ की तरह

लाभ उठावें यह परमावश्यक है। साम्प्रदायिकता के वातावरण से दूर रह कर ऊपर उठाया जाने वाला सच्चा धार्मिक शिक्षण देने से समाज में प्रेम, सहकार और धार्मिकता की वृद्धि होगी।

६. पृथक्-पृथक् सम्प्रदायों के नाम की संस्थाएं समाप्त कर दी जायें। या नाम रखें तब भी उदारतापूर्वक सब जैनों को प्रवेश दिया जावे और कोई भी दबावपूर्वक क्रियाएं (अपने सम्प्रदाय के अनुकूल) करने को बाध्य नहीं किया जावे।

७. सभी सम्प्रदायों के प्रमुख विद्वान्, संत और धनिकों का एक संगठन हो जो धार्मिक शिक्षण का पाठ्यक्रम बनावें और तदानुसार सभी संस्थाओं में शिक्षण चलाने की व्यवस्था करें तथा परीक्षण भी उसी के द्वारा निर्मित 'बोर्ड' के द्वारा हो।

८. जैन-समाज अपने विधि-व्यवहारों और कार्यक्षेत्रों में धार्मिक शिक्षा प्राप्त व्यवहार-शिक्षादक्ष कार्यकर्त्ता को प्रथम स्थान देकर आदर दृष्टि से उन्हें अपनावे।

—जैन प्रकाश
१-७-६४

# शिक्षरण संस्थाओं में स्वाध्याय का रूप क्या हो ?

शिक्षरण संस्थाएँ स्वयं स्वाध्यायी होती हैं। छात्र स्वाध्यायी एवं अध्यापक स्वाध्यायी। यदि ऐसा न हो, तो शिक्षा का नाम ही नहीं रहता। जहां शिक्षरण देने वाली संस्थाएँ हैं, वहां अध्ययन आवश्यक वस्तु है। शिक्षरण संस्थाओं में अध्ययन करना ही पड़ता है। बिना अध्ययन से कोई संस्था शिक्षरण संस्था नहीं बन सकती। अध्ययन-पाठ्यक्रम के अनुसार पढ़ाई, अध्यापक-पाठ्यक्रमानुसार पढ़ाने वाला व्यक्ति, अध्ययन शाला-शिक्षरण संस्थान। यह हुआ सारा परिक्रम।

स्वाध्याय, यह विशेष परिक्रम रखता है—अध्याय-अध्ययन करने की वस्तु, पाठ्य सामग्री और स्वाध्याय-निजी अध्ययन करने की वस्तु पाठ्य सामग्री। स्वाध्यायी निजी अध्याय का अध्येता प्राणी। निजी अध्ययन-आत्म-चिन्तन मनन और अन्तरावलोकन के अर्थ में आता है और ऐसी वस्तु को भी स्वाध्याय कहते हैं। इससे भिन्न एकान्त में या अकेला अपने आप पाठ्य सामग्री का उपभोग करना भी स्वाध्याय कहलाता है। 'स्वाध्याय' शब्द धार्मिक एवं संस्कारप्रद पुस्तकों का पढ़ना भी कहलाता है। ऐसा ही जैनियों में प्रचलित है। मेरे ख्याल से शिक्षरण संस्थाओं में स्वाध्याय का रूप इसी प्रकार के अध्ययन से हो सकता है।

शिक्षरण संस्थाएँ भी गीत, वाद्य-यंत्र, तंत्र, ज्योतिष, कला,

साहित्य आदि कई रूपों में प्रचलित हैं। उनका विस्तार भी पृथ्वी के हर कोने में है। प्रत्येक शिक्षण संस्था में स्वात्म चिंतन परमावश्यक वस्तु है; लेकिन सभी सस्थाओं में अपना चाहा धार्मिक अध्ययन होना बड़ा दुष्कर ही नहीं, असम्भव है। अत: इस विषय की पुष्टि में वर्णन करना स्वयं स्वाध्याय का रूप निखार देगा।

सबसे प्रथम हमें यह देखना होगा कि किस प्रकार की शिक्षण संस्था है और उसमें स्वाध्याय का क्या रूप हो सकता है ?

प्रत्येक पृथ्वी खंड में अनेक विधि अध्ययन क्रम चलता है, उसमें अध्येता को स्वाध्यायी बनना ही पड़ता है। बिना स्वाध्यायी बने उस विषय का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। मैं तो सही अर्थ में यही मानता हूं कि जो-जो प्राणी जिस-जिस विषय में ज्ञान के लिए गति करता है वह स्वयं अध्येता बन जाता है। स्वाध्यायी बन ही जाता है, फिर ऊपर से स्वाध्याय थोपने की वस्तु ही शेष नहीं रहती।

लेकिन सभी धर्म प्रचारकों का आग्रह रहा है कि हमारे धर्म-पंथ का अध्ययन हमारी शालाओं और अन्य धर्मावलंबियों की शालाओं में भी चले, ताकि उनको धार्मिक बनने का अवसर मिले। इसी अर्थ में हमारा स्वाध्याय मंडल भी गति कर रहा है। इस अर्थ में इस प्रकार की गति उस प्रधान संघ या धर्म संगठन द्वारा बड़ी प्रशसंनीय मानी जाती है। ऐसे कार्य करने वाले को प्रशस्ति के साथ स्वर्ग और अपवर्ग तक की प्राप्ति होने का प्रावधान भी है।

वास्तविकता पर आने पर यह कहना पड़ेगा कि यह आत्मा क्या है ? कहां से आया है ? इसका वर्तमान लोक से क्या सम्बन्ध है ? और क्या करने से आत्म प्रकाश की प्राप्ति होती है ? आत्मा का दूसरी सामाजिक आत्माओं के साथ क्या कर्तव्य रहते हैं ? इन्हीं विषयों का चिन्तन स्वाध्याय कहला सकता है। यह रूप सभी शालाओं में और

सभी धर्म सर्वों में प्रचलित रहे तो मानव समाज में शांति और व्यवस्था के साथ मुक्ति का वरण भी हो सकता है।

अपने-अपने धर्म ग्रन्थों का अध्ययन करना स्वाध्याय का अर्थ लिया जाता है, तो संकुचित दायरे में वस्तु अटक जाती है। क्या हमारे धर्म प्रवर्तक महोदय मेरे उत्तम दृष्टिगत विचारों की तरफ भी ध्यान देकर, विश्व को स्वाध्यायी बनाने का मार्ग प्रशस्त कर सकेंगे।

महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव पर स्वाध्याय स्मारिका में उनसे सम्बन्धित ग्रन्थों के स्वाध्याय की ओर ही विषय विवेचन का प्रधान लक्ष्य है, अतः मैं अब उसी दृष्टि से इसका विवेचन करता हूं।

शिक्षण शालाओं में महावीर के बताये मार्ग का अध्ययन करने का सभी को समान अवसर मिलने का भरसक प्रयत्न निम्न प्रकार से हो सकता है :—

(१) सभी भाषाओं में वीर-वाणी का विश्व कल्याणकारी संप्रदाय विहीन साहित्य का सर्जन करा कर, प्रत्येक देश के प्रत्येक प्रान्त में विश्व विद्यालयों-परीक्षा बोर्डों के पाठ्यक्रमों में स्थान दिलाने का उत्तम प्रयास करना। इसके लिए योग्य व्यक्तियों का संघ और करोड़ों रुपयों की आर्थिक संयोजना आवश्यक है।

(२) विश्व मंच के विद्यालयों या विश्व की संस्थाओं तक कार्य क्षेत्र नहीं बढ़ाना है, तो भारत के प्रत्येक प्रान्त की प्रत्येक युनिवर्सिटी और परीक्षा बोर्ड में वीर के विशुद्ध संप्रदाय रहित साहित्य का प्रकाशन और उनका पाठ्यक्रमों में स्थान दिलाना।

(३) जहाँ-जहाँ विश्वविद्यालयों और विद्यालयों में वाचनालय

और पुस्तकालय चलाये जाते हैं, उनमें उपरोक्त विषयक साहित्य को सिपुर्द कर छात्रों को पढ़ाने में विशेष रुचि पैदा करना। रुचि पैदा हो, ऐसा आकर्षक वातावरण फैलाना।

(४) शिक्षण संस्थाओं में ईश-वंदना के समय आत्म-चिन्तन करने की परिपाटी को कायम कराना तथा प्रार्थना के बाद पहले पीरियड में सामायिक या समता भाव के विचारों का दोहन करना। प्रार्थी छात्रों के लिए अल्प समय के लिए भी ध्यान का प्रावधान करना। इससे सभी शिक्षण-शालाओं के छात्र-छात्राओं को धर्म एवं अनुशासन की ओर गति कराने का उत्तम मार्ग साबित होगा।

(५) शिक्षण-शालाएँ जो आवास के साथ चलती हैं, उनमें अध्ययन काल के अलावा धार्मिक ग्रन्थों का वाचन का समय निर्धारित किया जा सकता है।

(६) सही माने में शिक्षण शालाओं में उनके अध्ययन के संपूर्ण कार्यों को निष्ठा से करना ही सच्चा स्वाध्याय होता है। अतः स्वाध्याय का अन्य रूप सदा उनके लिए अजीर्ण का काम करता है।

(७) उत्तम तरीका पाठन काल के अलावा छुट्टियों के दिन रविवार, ग्रीष्मावकाश, शरद कालीन अवकाश एवं पूर्व के दिनों में शाला चालक या समाज की स्वाध्याय मंडल संघ अथवा अन्य तरीके की संस्थाएँ उनके समय का उपयोग करने के लिए छात्र-छात्राओं का आह्वान करें, शिविर लगावे या २ घंटे की शालाएँ चलावें। उनके नाश्ते आदि की व्यवस्था तथा पारितोषिक आदि का प्रावधान करे, तो संस्थाओं में शिक्षण के साथ यह खुराक भी सुपाच्य बन

जाती है। यह कार्य शिक्षण शाला वाले और अन्य संघ वाले मिलकर करें तो अधिक फलदायी होगा।

(८) शिक्षण शालाओं में एक घंटा धर्माध्ययन का रखा जाना अत्यावश्यक है। नीति शिक्षण की पुस्तकों का अध्ययन स्वाध्याय का रूप ले सकता है। यह कार्य भी सभी शिक्षण शालाएँ अपने-अपने तरीके से कर सकती हैं।

(९) सबसे उत्तम तरीका धर्म का सही रूप "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" के सूत्रानुसार एक पाठ्यक्रम सारे विश्व या भारत के शिक्षार्थियों के लिए निर्धारित किया जावे और उस साहित्य का पाठन प्रत्येक शाला में एक कालांश के लिए आवश्यक तौर से रखा जावे। इस पाठ्यक्रम में मानव से लेकर छोटे से छोटे जीवाणु एक दूसरे के कितने सहयोगी हैं और हम भी उन्हें किस प्रकार सहयोग कर सकते है इसका उत्तम रीति से प्रतिपादन होना चाहिए। ऐसे साहित्य में क्षमा, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह, शील, विनय, अनुशासन आदि तमाम गुणों का वर्णन स्वतः आ जायेगा। जो मानव स्वयं जीना चाहता है, वह दूसरों को जीने मे सहयोग करे। सहयोग और प्रेम की भावना के प्रसार में धर्म का सच्चा स्वरूप स्वाध्याय शाला मे निखर उठेगा।

# बाल-शिक्षा और अनुशासन

प्राणि मात्र की तीन अवस्थाएँ होती हैं; बाल, युवा और वृद्ध। इसके बाद प्राणान्त। मानवों की भी ये ही अवस्थायें हैं। मानव सब प्राणियों में अधिक बुद्धिशील है। अतः इसे ज्ञानार्जन, ज्ञान का वितरण और ज्ञानोपयोग तीनों में अपनी शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त वह स्वयं समाज व्यवस्था में रहना पसन्द करता है। अतः समाज के नियमों के अनुकूल चलने में विश्वास रखता है। इसे ही हम अनुशासन में रहना कहते हैं। मानवों की शिक्षा और अनुशासन दो आवश्यक प्रक्रियायें हैं, जिन्हें सम्पादन करना ही होता है। मानवों की उन्नति के ये दो मुख्य चरण हैं।

मानव की प्रथम अवस्था बाल्यकाल है। इसे हम तीन भागों में बाँटते हैं। शिशु (ढाई वर्ष से ५ वर्ष तक), बाल (६ वर्ष से १५ वर्ष तक) और नवयुवा (१६ वर्ष से २५ वर्ष तक)। नवयुवापन निकाल देने पर दो अवस्थाएँ शेष रहती हैं। दोनों अवस्थायें मन, शरीर और ज्ञान की वृद्धि करने वाली होती हैं। अतः इन अवस्थाओं में अनुकूल परिस्थितियों की व्यवस्था अत्यावश्यक है।

पुरानी कहावत—सूक्ति है :—

लालयेत् पन्च वर्षाणि दस वर्षाणि ताड़येत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्र मित्र वदाचरेत्॥

शिशु पांच वर्ष तक की उम्र वाला कहलाता है। अतः इस अवस्था में प्रेम से लाड़ से शिक्षा दें और अनुशासन में रखें। आज की

माण्टेसरी या किंडर गार्टन पद्धति इसीका रूप है। पहले अपने घरों में मातायें स्वयं अपने संरक्षण में प्रेम के साथ सभी प्रारम्भिक ज्ञान अपने बच्चों को देती थीं। आज की मातायें बच्चे पैदा करने के बाद लालन-पालन का काम दूसरों पर छोड़ देती हैं और शिक्षा तथा अनुशासन का काम भी। दूसरों पर छोड़ा हुआ काम बेगार का होता है। वहाँ असली प्रेम नहीं मिल सकता और न बालक अपने कुलानुकूल उचित शिक्षा-दीक्षा और अनुशासन ही पा सकता है। शिशु जैसा वातावरण पाता है, वैसा ही ढल जाता है।

ग्रामीण जनता में शिशु शिक्षा का अभाव है। वह जिस तरह अपनी माता के साथ श्रम तथा शिष्टाचार पा लेता है। आगे जाकर वैसा ही ग्रामीण या कुछ उन्नत बन जाता है। कुछेक शिशु बाहरी वातावरण को पाकर बालकपन में प्रगति कर लेते हैं। यह उनके सौभाग्य की बात है।

ग्रामीण बच्चे निडर और श्रमशील होते हैं। वे ही आगे जाकर बहादुर लड़ाके और परिश्रमी किसान बनते हैं। इन्हीं पर सारे समाज की रक्षा की और खाने की व्यवस्था का बोझ है। ग्रामीण बच्चे बड़े होकर अन्नदाता परवरदिगार बनते हैं और शहरी बच्चे चालाक, श्रमचोर, बुद्धिमान तथा हुकूमत करने वाले निकलते हैं। इस जगत् में बड़ा अन्धेर यही है कि बुद्धिशील मानव अल्प बुद्धि वालों से अपना गुजर बसर करते हैं। ग्रामीण शिक्षा और नागरी शिक्षा में यही अन्तर है।

बड़े दुःख की बात है कि नागरी शिक्षा वाले ही सभ्य कहलाते हैं और अन्नदाता गरीब किसान ग्रामीण मूर्ख गंवार की श्रेणी में आते हैं। यह है आज की शहरी शिशु-बाल शिक्षा का प्रभाव या प्रभुत्व।

हां, मैं यह लिख रहा था कि शिशुओं को प्रेम से शिक्षा देना ही उत्तम और सही मार्ग है। खेल ही खेल में, गीत के आनन्द में, नृत्य और बाजों के स्वरों में तथा चित्रों की आकृतियों में शिशुओं की

शिक्षा सफल होती है। एक साथ खेलने, नाचने, गाने में ही उन्हें अनुशासन सिखाया जाता है। हरे-हरे बगीचों के बीच उन्हें प्राकृतिक सौन्दर्य का पाठ पढ़ाया जा सकता है। छोटे बालकों अर्थात् शिशुओं के शिक्षक या शिक्षिका, पिता या माता तुल्य बनावटी या सही प्रेम का प्रादुर्भाव अवश्य करें ताकि बच्चे उन पर विश्वास करें और आस्वस्थ रहें।

आज हमें मॉण्टेसरी और किंडर गार्टन पद्धतियों को अपनाने के साथ निजी सांस्कृतिक परिस्थितियां भी ढालनी चाहिये। बच्चे भारतीय संस्कृति और अपने समाज के नियमोपनियमों से परिचित रहें। इस हेतु भी अपनी निजी सुधार प्रणालियां अपनानी आवश्यक हैं। यह अवश्य दुर्दैव का विषय है कि भारत को आजाद हुए पच्चीस वर्ष हुए, लेकिन ग्रामों मे शिशु शालाओं का भारतीय शिक्षा ने विस्तार नहीं किया। अभी तक ऊंचे अधिकारियों और श्रीमतों के बच्चे ऊंचे आंग्ल भाषा माध्यम के स्कूलों में शिशुओं के स्तर से लेकर नवयुवापन तक शिक्षा पा रहे हैं और उनकी शिक्षा-दीक्षा की तरफ राज्य सरकार ध्यान दे रही है। मिशन स्कूल, पब्लिक स्कूल, मेयो कॉलेज जैसे पब्लिक कॉलेजों में पढ़ाकर बच्चे उच्चाधिकारी बनाने का हक उन्हीं अधिकारियों और श्रीमंतों के लिये सुरक्षित है। ये दुहरी शिक्षा प्रणालियाँ भारत के भाग्य को दुर्भाग्यपूर्ण बना रही है। दुहरी शिक्षा प्रणालियों से भविष्य में भी एक से अधिकारी निर्मित होंगे और एक से अधिकारी से ठोकर खाने वाला श्रमशील या मूर्ख गुलाम ही बनता जायगा।

भारत के प्राचीन काल में राजा और रंक का बच्चा एक ही शाला या आश्रम में समान स्तर पर पढ़ता था। समान सुविधायें थीं। समान ज्ञान था। अपने श्रम से जैसा बनना चाहता, बन जाता। चौदह विद्या निधान और बहत्तर कला निपुण होता था। बच्चियां

६४ कला दक्ष होती थीं। बड़ा दुःख है, भारत के कर्णधार इस द्वैविध्य शिक्षा प्रणाली को कब समाप्त करेंगे और समानता पर आयेंगे ? गाँव-गांव मे शिशु शालायें खोलेंगे और एक ही स्तर पर सभी को शिक्षा देंगे ?

छः वर्ष से ऊपर का मानव बालक की श्रेणी में आता है। उसे पन्द्रह वर्ष की उम्र ताड़ना पूर्वक अर्थात् तर्जना के साथ शिक्षा और अनुशासन देना चाहिए। यह बात अब भी वैसी ही है जैसी पूर्व में थी। छः वर्ष से बालक उच्छृखल और समझदार बनता जाता है। वह अपनी समझदारी का उपयोग शिक्षा और अनुशासन में करे। चारित्र का अनुसरण करे। इसके लिये उसको १५ वर्ष की आयुपर्यन्त, जब तक हेय-उपादेय या अच्छे बुरे का ठीक तरह निष्कर्ष न निकाल सके, तब तक रोकथाम तथा अन्य वश रखने के उपाय करते हुए शिक्षा देनी चाहिए। इसमें डराना, धमकाना, सजा देना, साधारण मार-पीट करना तक आ सकता है। विशेषतौर से तर्जना का अर्थ मारने की अपेक्षा इशारे से सम-झाना या बुरे-भले के लिये न्याययुक्त मार्ग पर चलने के लिए बाध्य करने तक आता है, फिर समय के अनुकूल जैसा चाहे व्यवहार करे। लेकिन ऐसा व्यवहार नहीं किया जाना चाहिए जिससे बच्चा अंकुश से बाहर हो जाय, डर जाय, शिक्षा से जी चुरावे अथवा बच्चे का अंग-भंग हो जाय तथा दिमाग विकृत हो जाय। उपर्युक्त विनाशकारी परिणाम पैदा न हों और बच्चा सही मार्ग पर चलता हुआ शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करे, वैसे उपाय करना ही तर्जना की श्रेणी में आते हैं। इससे भिन्न प्रताड़ना कहलाती है।

बालकों को किताबी ज्ञान के अलावा प्रायोगिक ज्ञान अधिक देना चाहिये ताकि ज्ञेय वस्तु शीघ्र समझ जाय। जो शिक्षक पुस्तकों को रटने पर अधिक बल देते हैं वे शिक्षक नहीं, अपितु उनके लिए नर-पिशाच बन जाते हैं। एक ही वस्तु प्रक्रिया को भिन्न-भिन्न ढंग से

अनेक बार समझाने पर बच्चा स्वयं ग्रहण कर लेता है। कई अध्यापक रेल के इन्जिन की तरह फटाफट कहे जाते हैं या पढ़े जाते हैं। यह तरीका अच्छा नहीं होता। बच्चों को पहले अपनी ओर आकर्षित करें और बाद में इस ढंग से वस्तु ज्ञान दें, जिससे बच्चा बराबर उसको सुनने में या देखने में रुचि लेता रहे। बीच-बीच में बच्चों से प्रश्न भी पूछ लेना उत्तम है, ताकि वे ज्ञान ग्रहण के लिये सजग रहें।

शुद्ध लेखन के लिए बार-बार नकल कराना और कठिन शब्दों के उच्चारण के साथ लिखने का अभ्यास कराना परमावश्यक है। आज का एम० ए० का विद्यार्थी शुद्ध लेखन नहीं जानता है। यह सब शिक्षक की लापरवाही का परिणाम है। आज शिक्षक श्रमशील नहीं रहा है। वह भी राजकीय कर्मचारियों की तरह कम काम और अधिक दाम पर उतर आया है। बालक शिक्षा और उसके अनुशासन पर उनका कोई ध्यान नहीं है। इसीसे बालक उद्दण्ड और शिक्षा के प्रति अरुचि रखने वाला बन गया है। शुद्ध उच्चारण भी अध्यापक नहीं सिखाते। ह्रस्व दीर्घ के ज्ञान या स्पेलिंग के ज्ञान के साथ संयुक्ताक्षरों के उच्चारण भी भलीभांति सिखाने चाहिये। स्वयं अध्यापक यदि शुद्ध लेख और शुद्ध उच्चारण करता है और श्रमशील होता है, तो उसके द्वारा पढ़ाये हुए बालक, छात्र भी वैसे ही बनते हैं। आगे भी अच्छे बने रहते हैं। स्कूलों तक ही ये शिक्षायें होती हैं। महाविद्यालयों में तो सिर्फ भाषण रह जाते हैं। अतएव अध्यापकों को चाहिए कि वे अपनी जिम्मेदारी महसूस करें। बच्चों के आचरण, अनुशासन और शिक्षा का पूरा ध्यान रखें। सुन्दर लेख की तरफ भी अध्यापकों की गति नहीं के बराबर है। छ: वर्ष से १५ वर्ष तक बच्चे प्राथमिक और माध्यमिक शालाओं में रह कर ये सब सम्पादन करलें। यही बच्चों के लिए जीवन मंत्र है। इसीसे बच्चे आगे के जीवन में निष्कंटक प्रवाह से प्रगति करते जाते हैं।

छोटे-छोटे शिशुओं और उनसे बड़े बच्चों के लिए ट्यूशन (विद्यालय समय के अतिरिक्त घर या अन्य जगह विशेष दी जाने वाली शिक्षा) का बड़ा रोग फैला हुआ है। शिशु या बाल इसके आदी हो जाते हैं और बिना ट्यूटर के पढ़ते भी नहीं है। माता-पिता का ट्यूशन की आदत डालना बच्चों को खराब करना है और शिक्षकों को अपने कर्त्तव्य (विद्यालय कार्य) से च्युत करना है।

शिशुओं और बालकों को कहानी सुनने का बड़ा चाव होता है। अतः उन्हें अच्छे संस्कार डालने वाली कहानियाँ सुनाना चाहिये। छोटे-छोटे चुटकुलों से ध्यानाकर्षण कर उचटे हुए मन को पुनः अध्ययन में लगाने का एक तरीका है, जो प्रशस्त अध्यापक काम में लाते हैं। पीटने की अपेक्षा कहानी तथा हास्यप्रद चुटकलों द्वारा बालकों का ध्यान पढ़ने में विशेष आकर्षित होता है। भारत के भावी कर्णधारों को चोर, शरारती और शर्मीले बच्चे नहीं चाहिए। बहादुर, परिश्रमी, लगनशील और निर्भय बच्चे बनाना ही भारत का उज्ज्वल भविष्य बनाना है।

इस सम्बन्ध में मेरे निम्नलिखित सुझाव हैं :—

(१) जो बच्चा चोरी करना सीखता है, वह अपनी आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर पाने के कारण ही यह मार्ग अपनाता है। इसीलिये कहा गया है—"वसे गुरुकुले णिच्चं" अथवा "सहनाववतु सहनौभुनक्तु सहवीर्यं करवावहै तेजस्वीनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै"। गुरुकुल के पाठन काल तक सबके साथ रहे, एक साथ उठे-बैठे, खाये-पीये, खेले-कूदे और तेजस्वी बने, आपस में कभी भी द्वेष जागृत न हो। ये ही हमारे मंत्र जो बच्चों में सब गुण पैदा करते हैं और अवगुण निकालते हैं। एक बच्चा धनवान का है। अच्छा खाना साथ लाता है। अच्छा वस्त्र पहन कर आता है अथवा अच्छी वस्तुओं का उपयोग करता है। जिनके पास ये सुविधायें नहीं है, वे बच्चे ललचाते हैं और

आखिर चोरी का रास्ता अपनाते हैं। अतः बच्चों को सादे रहन-सहन भोजन तथा अन्य सामग्री के साथ आश्रम या गुरुकुल में ही पढ़ाना उत्तम है।

(२) बच्चा शरारती तब बनता है जब उसके माता-पिता उस पर देख-रेख नहीं रख पाते हैं। ऐसे बच्चे को सुधारने के लिए उनके मन बागबानी, चित्रकारी या अन्य तरह के कार्यों में लगाया जावे। शरारत छूट जायगी।

(३) शर्मीले बच्चे भोंदू कहलाते हैं। उनकी झिझक मिटाने के लिये अध्यापक को उन्हें बार-बार मंच पर लाना चाहिए। नृत्य, नाट्य और संवाद आदि द्वारा शर्म को तुड़ाना चाहिये।

(४) कामचोर बच्चों को सदा अपने पास बिठा कर काम कराना चाहिये और उसको फालतू फिरने से रोकना चाहिये।

(५) अन्य कई तरह के बालक होते हैं। उन्हें नई अनुकूल परिस्थितियां पैदा कर उन्हीं मे ढालने के उपाय करने चाहिये। बालक बुरा नहीं होता है। उसे अभाव अभियोग से बुरा बना दिया जाता है। अतः किसी बच्चे को अभाव का अनुभव नहीं होने देना चाहिये तथा कोई भी अभियोग उस पर नहीं लगा कर, उसे सुधारने के उपाय करने चाहिये। अपराध सुनकर बच्चा अपराधी बन जाता है।

अन्त में मेरा निवेदन है कि बच्चों की शिक्षा और अनुशासन के लिए उपर्युक्त बातों को ध्यान में रख प्रगति करेंगे तो बच्चे अवश्य ही सभ्य नागरिक बनेंगे।

खाजूवाला, जयपुर
१९७२

# वर्तमान शिक्षा-पद्धति

मानवों के सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक व्यवहारों के संचालन हेतु जो पठन कराया जाता है, वह शिक्षा कहलाती है। शिक्षा वही है, जो मानव समाज में शांति और व्यवस्था कायम रखते हुए, जीवन निर्वाह को उन्नत ढंग से यापन करा सके। जो मुक्त्यर्थ कामयाब हो, वह सही शिक्षा है। शिक्षा में सार्थकता तभी आ सकती है, जब उन्नत चारित्र के साथ समाज के उत्थान में उपयोगी सिद्ध हो। सत्यं, शिवं, सुन्दरम् को चरितार्थ करने वाली शिक्षा ही उत्तम शिक्षा है।

वर्तमान शिक्षा में उपरोक्त तत्वों का कितना समावेश है, यही समालोचनात्मक विवरण करना है। वर्तमान शिक्षा-पद्धति के मूल को छूकर विस्तृत दायरे में उतरना है। आज के जीवन की समस्याओं को वर्तमान शिक्षा-पद्धति कितना हल कर पा रही है? देखना है। मानव और प्राणिसमाज का शांति और व्यवस्था में वर्तमान शिक्षा-पद्धति कितना योग देती है? इसका विश्लेषण करना है। देखना है कि क्या वर्तमान शिक्षा पद्धति समय के अनुकूल है और ग्राह्य है?

वर्तमान शिक्षा-पद्धति को निम्न प्रकार से वर्णित करेंगे:—

(क) मूलाधार (ख) छात्रों, अध्यापकों, संरक्षकों और समाज के अन्य तत्वों का हित। (ग) मानव जाति के कल्याण में कितनी साधक है? (घ) धनार्जन या यश प्राप्ति में कामयाबी। (ङ) स्वाधीनता में सही योग। (च) चारित्र और आत्म-साधना में सहयोग।

(छ) भविष्यकाल के लिए उत्कर्ष का माप दण्ड । (ज) विज्ञान और वर्तमान शिक्षा पद्धति का तालमेल ।

**मूलाधार :**

वर्तमान शिक्षा-पद्धति अंग्रेजों ने भारतीयों को उनके शासन के सेवक बनाने हेतु प्रचलित की । जितना ज्ञान और चारित्र उनके दास बन कर जीवन बिताने में योग्य साबित होता था, वही पाठ्यक्रम रखा गया था । भारतीयों को अंग्रेजों के वफादार नौकर बनाने हित इस पद्धति का उद्भव हुआ । वर्तमान शिक्षा-पद्धति पारस्परिक स्नेह-हीन, हीन भावना की वृद्धि करने वाली और गुलामी को बढ़ानेवाली है । इस पद्धति से भारत आजाद होते हुए भी इस शिक्षा-पद्धति और भाषा की गुलामी में जकड़ा हुआ है । आज बाईस वर्ष बाद भी साधारण परिवर्तन के सिवाय कोई मूलाधार परिवर्तन नहीं किया गया । यही इस शिक्षा-पद्धति का गलत और अहितकर मूलाधार है । मूलाधार बदलने पर ही स्वतन्त्र भारत का छात्र मन, वचन और कर्म से सच्चा भारतीय बन सकेगा । आध्यात्मिक ज्ञान से शून्य इसका मूलाधार है और व्यावहारिक ज्ञान की पूर्णता भी इसमें नहीं है ।

**अध्यापक, विद्यार्थी, संरक्षक व समाज का हित :**

वर्तमान शिक्षा-पद्धति में अध्यापक मात्र पाठक है । इसके अति-रिक्त उसका कोई विशेष स्थान नहीं है । अध्यापक और विद्यार्थी का जो गुरु-शिष्य का आत्मीय सम्बन्ध होना चाहिए वह नहीं रखा गया है । अध्यापक इसे जीविका का साधन मानता है । नौकर की तरह अपने को समझता है । अपनी आत्मा की आवाज को बाहर नहीं निकाल सकता है । बन्धन-युक्त नौकर स्थिति का अनुभव करता है और नियत समय में, नियत अध्ययन कराकर अपनी छुट्टी मना लेता है । छात्र घर जाकर पढ़ता है या नहीं ? छात्र की क्या-क्या प्रवृत्तियां हैं ? कक्षा

में छात्र का व्यवहार क्या है ? वह ध्यान से पढ़ रहा है या नहीं ? इन बातों पर उसका कोई लक्ष्य नहीं होता । जैसे तैसे पूरा या अधूरा मिला ज्ञान, अध्यापन समय में पढ़ा देना अपना कर्तव्य मात्र मानता है। समाज और राष्ट्र हित छात्र के उत्थान का और धर्महित छात्र की चरित्र सम्बन्धी उन्नति का कोई जिम्मा वह नहीं लेता है ।

विद्यार्थी वर्तमान शिक्षा-पद्धति में एक हाजिरी देने वाला स्कूल का लड़का मात्र गिना जाता है। अध्यापक एवं शिक्षा-विभाग छात्र की सर्वक्षेत्रीय उन्नति का कोई खयाल नही रखता । सभी छात्रों को समान शिक्षा देकर उनका समय बरबाद करने वाली वर्तमान शिक्षा पद्धति है । छात्र की रुचि के अनुसार का माध्यम ८ वीं कक्षा के बाद होना चाहिए, उसका इसमें अभाव है । अतः हमारा भारतीय छात्र हर क्षेत्र में अपनी मनोवाछित उन्नति नहीं कर पा रहा है । माता, पिता और गुरु आदि की आज्ञा और विनय से दूर रहता है । छात्र के भावी जीवन का कोई जिम्मा वर्तमान शिक्षा-पद्धति नहीं ले पा रही है ।

संरक्षक का वर्तमान शिक्षा-पद्धति में कोई स्थान नहीं है । वह दर्शक मात्र है और विशेष हुआ तो छात्र, अध्यापक और शिक्षास्थल का अर्थ पोषक तत्व मात्र गिना जाता है । छात्र के हित उस पर कोई जिम्मेदारी वहन करने का बोझ वर्तमान शिक्षा पद्धति में नहीं डाला है । अतः संरक्षक भी शिक्षा विभाग और अध्यापक के मार्ग में कभी आड़ा नहीं आता और अपने बच्चे को उनके भरोसे छोड़कर भविष्य के बारे में अनभिज्ञ रहता है ।

समाज-हित की शिक्षा यदि इस पद्धति में सम्मिलित होती, तो आज का मानव-समाज ईमानदार, उद्योगी, राष्ट्र के प्रति वफादार और जीवन के प्रति सजग होता । इस शिक्षा-पद्धति ने समाज में जातिवाद, सम्प्रदायवाद, प्रदेशवाद फैलाने के साथ ही वात्सल्यभाव का अन्त कर

दिया है तथा राष्ट्रीयता को नेस्तनाबूद कर दिया है। स्वार्थी और ईर्षालु समाज का वातावरण बढ़ता जा रहा है। पढ़े-लिखे डाकू दिन दहाड़े मस्तिष्क की चालाकी से जनता को लूटते है और मौज-मजे की बंशी बजाते हैं। वर्तमान शिक्षा-पद्धति ने दिमागी डाकू पैदा किये हैं। समाज में अशांति और अव्यवस्था फैलाई है।

**मानव जाति का कल्याण :**

वर्तमान शिक्षा पद्धति स्वार्थभरी है। परमार्थ ज्ञान से शून्य है। विश्व की मानव जाति के कल्याण के लिए पाठ्यक्रम में कोई विशेष स्थान नही है। पाठ्यक्रम में भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के स्वहित के नारे हैं। विश्व-मानव कल्याण की भावना जागृत करने वाली शिक्षा का अभाव है। ऐसी शिक्षा के लिए धार्मिक शिक्षा पाठ्यक्रम मे डालनी आवश्यक है।

**धनार्जन और यश प्राप्ति :**

वर्तमान शिक्षा में उद्योग धंधे की विस्तृत जानकारी नही दी जाती। पुस्तकीय ज्ञान के अलावा पेढ़ियों, फर्मों और बैंकों में गुणात्मक ज्ञान की शिक्षा का अभाव है। विशेष बुद्धिशाली स्वयं अपनी शक्ति से धनार्जन करता है और विश्व में ख्याति प्राप्त करता है। पाठ्यक्रम में इस प्रकार के उन्नत प्रयोग नही रखे गये है, जो अत्यन्त आवश्य है।

**स्वाधीनता में सही योग :**

वर्तमान शिक्षा का पाठ्यक्रम सच्चा स्वाधीन मानव नहीं बनाता। स्वार्थी और परावलम्बी बनाने में योग देना ही इस पद्धति का मुख्य काम है। भारत स्वाधीन राजनैतिक स्तर पर हुआ है। सामाजिक आर्थिक और नैतिक स्तर पर अभी भी गुलाम है। बाईस वर्ष के काल में भी इस पद्धति से सामाजिक, आर्थिक और नैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हुई हैं। भारत का मानव-समाज, हीन दृष्टिवाला और रुग्ण है।

दरिद्री और बेईमानी से भरा पड़ा है। जब तक पाठ्यक्रम में इसका शिक्षण नहीं दिया जायगा, भारत मे सच्ची स्वाधीनता नही फैलेगी।

**चारित्र और आत्मसाधना में योग :**

इस बारे में वर्तमान शिक्षा प्रणाली बिल्कुल शून्य है। चारित्र नाम की कोई चिड़िया होगी, ऐसा आज का शिक्षित वर्ग समझता है और आत्मिक ज्ञान का तो इस पद्धति ने ह्रास कर दिया है। बिना धार्मिक शिक्षा के इस तरह की योग्यता सम्पादित नही हो सकती और वर्तमान शिक्षण शैली मे इसका अभाव है।

**भविष्य के उत्कर्ष का माप-दण्ड :**

भारत की शिक्षा-प्रणाली भारत की भावी उन्नति कर सकेगी इसमें भारी संदेह है। बाईस वर्ष में शिक्षा-कार्य ने जो उन्नति की है, वह है—स्ट्राइक, तोड़फोड़, आगजनी, अपमान जनक प्रवृत्ति, स्त्रियों के साथ छेड़-छाड़, अध्यापकों का अनादर, लूप-पाट करना आदि। वर्तमान शिक्षा पद्धति ने भारत के शासन को जीर्ण-शीर्ण कर दिया है। अनुशासन नाम की और चारित्र के स्थान की कोई वस्तु नहीं दीख रही है। छात्र उच्छृंखल हो गये हैं। राजनैतिक पार्टियां उनसे अपना स्वार्थ सिद्ध कर रही हैं, इसी से भारत के भविष्य का पता लग सकता है। भारत की शासन डोर को छात्र किस प्रकार सम्भालेंगे? किस प्रकार भावी भारत में शांति और व्यवस्था कायम रखेंगे? इस पद्धति ने भारत का भविष्य अंधकारमय, बना दिया है। ये नेता लोग आंखों से देखते हुए और हाथ मे दिया होते हुए भी अंधे बना दिए गये हैं। दृष्टिहीन हो चुके हैं। स्वार्थों का बोलबाला है। भारत के भविष्य में अराजकता फैल जाना इस शिक्षा-पद्धति का सही मापदण्ड है। निकट भविष्य में यह साकार हो जायगा। वर्तमान पाठ्यक्रम से पढ़े हुए छात्र स्वयं शासक बनकर या शासित बन कर अराजकता फैलायेंगे। धर्म, कर्म, चारित्र, नीति और शांति कोसों दूर हो जायगी।

**विज्ञान और वर्तमान शिक्षा पद्धति का तालमेल :**

विज्ञान के आविष्कारों ने शिक्षा-पद्धति में परिवर्तन लाने का आह्वान किया है। लेकिन वर्तमान शिक्षापद्धति में इस उत्कर्ष को देखते हुए कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। आज की शिक्षा यदि विज्ञान के आविष्कार-जनित ज्ञान को सही रूप से प्रचलित करे तो छात्र वर्तमान और भविष्य का सही आभास करेगा। शिक्षा का विज्ञान के साथ तालमेल बैठाना, शिक्षा पद्धति में सही सुधार करना है। विज्ञान का मानव समाज के हित सही उपयोग का परिज्ञान ही शुद्ध शिक्षा पद्धति का मार्ग है। भविष्य में विज्ञान का मार्ग आध्यात्मिक ज्ञान की ओर बढ़ेगा, ऐसा आभास होता है। मनुष्य ठोकर खाकर संभलता है, इसी दृष्टिकोण से भारत की वर्तमान शिक्षा पद्धति को आमूल परिवर्तन कर विज्ञान के संपुट के साथ शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति के हित अपनानी चाहिए।

सुधर्मा
१५ अक्टूबर, १९७०

# शिक्षा के साथ दीक्षा भी आवश्यक है

सांसारिक वातावरण से दूर कहीं पर भी शिक्षा का महत्त्व नहीं है। जहां मोक्ष का एक पृथक प्रदेश बताया जाता है, वहां तक पहुँचना शिक्षा की सार्थकता नष्ट करना है।

'सा विद्या या विमुक्तये' का पद हमारे हृदय स्थल में दीक्षा के निमित्त अङ्कित करना पड़ता है। शिक्षा—कोरा तोता ज्ञान अथवा सक्रिय व्यवहार ही नहीं, शिक्षा के साथ दीक्षा-चारित्र्य का होना अत्यंत आवश्यक है। विद्या या शिक्षा वही है, जो मुक्ति का कारण है।

मुक्ति का रहस्य हमारे आद्य पुरुषों ने यह बताया है 'कृत्स्नम् कर्म क्षयो मोक्षः' संपूर्ण सद्सत्कर्मों का क्षय ही मोक्ष है। जहां कर्म क्षय हो जाते हैं, वहां निष्क्रिय बन जाना पड़ता है। वास्तविक स्थिति यह है कि सांसारिक माया-ममता और पारस्परिक सम्बन्धों में लिप्त न रह कर कार्य करते रहना और राग-द्वेष रहित स्थिति को प्राप्त करना मुक्ति है। कषाय से मुक्त होना वास्तविक मोक्ष है।

जहां शिक्षा का अर्थ डिग्रियां प्राप्त करना मात्र है और उसके द्वारा येन-केन-प्रकारेण आजीविकोपार्जन करना अथवा प्रचार क्रिया

से साधारण बुद्धि वालों में पूज्य बन जाने का लक्ष्य है, वहां शिक्षा का दीक्षामय जीवन नहीं बन सकता। अपनी कला-कृतियां, उपकार वृत्तियां और शान्त व्यवस्थित स्थितियां जगत् को नहीं दे सकता।

स्वार्थ परम्परा को नष्ट कर संग्रह नीति को समाप्त करना, हिंसक प्रवृत्तियों की जगह प्रेममय वातावरण बनाना, व्यभिचार क्रियाओं को छोड़ कर, शील सदाचार वृत्तियों को जगाना, असत्य निष्ठा से सन्निष्ठा को प्रतिष्ठित करना तथा एक दूसरे को सहयोग करना हमारे जीवन का प्रधान लक्ष्य है। यदि शिक्षा इस लक्ष्य को पूरा नहीं कर सकती है, तो वह शिक्षा नहीं; वह संसार की व्यवस्था और शांति को नष्ट करने वाली स्वोपभोग्य क्रिया मात्र है। शिक्षा का आज का मापदण्ड परीक्षायें पास कर डिग्रियां प्राप्त करना मात्र रह गया है। शिक्षा का फल अच्छे बंगले बनाना, मोटरों में सैर करना और दुनिया को ठगना मात्र है। जहां शिक्षा का यह फल मिलता है, वहां शिक्षा कुशिक्षा बन जाती है और वह कुशिक्षा ही है।

अशिक्षा से कुशिक्षा महान् अनर्थोत्पादक है। आज का वातावरण शिक्षा के पवित्रतम उद्देश्य की ओर नहीं ले जा रहा है। आज का राज्य शासन शिक्षा और चारित्र्य में वैमनस्य पैदा कर रहा है। आज चारित्र्य नाम मात्र की वस्तु रह गई है। आज सबसे अच्छा सज्जन वह है जो अशिक्षितों, अर्द्धशिक्षितों और भोले लोगों की आंखों मे धूल झोंक कर अपना कार्य बना ले।

आज हमारी शिक्षा की परंपरायें नष्ट हो चुकी हैं। 'ओम् सहनाववतु, सहनौभुनक्तु, सहवीर्यम् करवावहै, तेजस्विनावधीतमस्तु माविद्विषावहै' पद का उच्चारण दूर रहा। गुरु और शिष्य का स्वच्छ सम्बन्ध भी नष्ट हो चुका है। डिग्रियों के आधार पर गुरु खरीदे जाते हैं। उनके चारित्र्य की तरफ शिक्षाधिकारियों की कोई परीक्षण वृत्ति

नहीं है। उसी का परिणाम है कि भारत दिनों दिन अनीति और ईर्ष्या का घर बनता जा रहा है।

विलासमय वातावरण चतुर्दिशाओं में फैल रहा है। वहां स्त्री-पुरुष के शौर्य, कला, जीवन और जीवनाधार चारित्र्य अपने आप नष्ट हो रहे हैं। प्रदर्शन, पाखंड और चतुराई अपना असर जमाये हुए हैं।

"ज्ञान, क्रिया के बिना थोथा है, सिद्धांत परीक्षण के बिना अमान्य है।" जब तक शिक्षा हमारे शरीर, मन और आत्मा को पूर्ण विकास की ओर नहीं ले जायगी; तब तक हमारे लिए शिक्षा अपूर्ण है और जब तक जीवन तथा जगद्‌व्यवहार में सार्थकता नहीं बन सकती तब तक निकम्मी है। थोथा ज्ञान व्यावहारिक जीवन के बिना निरर्थक है।

मैं आज के राष्ट्र निर्माताओं को उद्‌बोधित करता हूं कि आपका सारा प्रयास, बिना शिक्षा के मूलभूत उद्देश्यों में परिवर्तन किये कार्य करने में निष्फल हो जायगा।

जिस शाला, पीठ और विद्यालय में शरीर के सम्पूर्ण व्यवहारों का ज्ञान नहीं दिया जाता और मानसिक, आत्मिक अनुभूति का भान नहीं कराया जाता, वह शाला, पीठ और विद्यालय हमारे लिए भारभूत हैं। एक दिन वह आएगा कि हम शिक्षितों को अयोग्य और मानव जीवन से ऊबे हुए पायेंगे तथा सांसारिक सम्पूर्ण व्यवस्थाओं को छिन्न-भिन्न कर देंगे।

'चारित्र' एक ऐसी वस्तु है जो जीवन को सुव्यवस्थित और विकसित करती है। उसके बिना शिक्षा का आनन्दानुभव आज का शिक्षक और विद्यार्थी वर्ग प्राप्त नहीं कर रहा है। आज का शिक्षक, अधिकारियों और छात्रों से असन्तुष्ट है। छात्र शिक्षक और अधिकारियों से नाराज है और अधिकारी शिक्षक और छात्रों से परेशान है। यह कोई शिक्षा व्यवस्था और उसकी प्रचार

प्रक्रिया का रूपक है ? यह तो धक्का गाड़ी का कार्य सरकार बरबस कर रही है जिसके न हाथ हैं, न पैर।

राज्य सरकारें यदि अपने अधीनस्थ मानवों को सुव्यवस्थित और शांत वातावरण में ले जाना चाहती है तो उसे मानसिक और शारीरिक विकास के साथ, मानव जीवन और उससे सम्बन्धित साधनों के विकास में शिक्षा के पवित्र कार्य का श्री गणेश करें।

—आलोक, १९५५
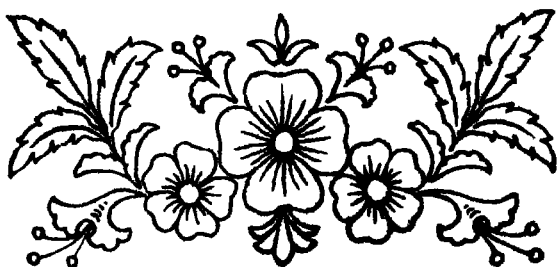
# महावीर की दृष्टि में शिक्षा, शिक्षक और शिक्षार्थी

वर्धमान महावीर की सर्वज्ञ दृष्टि और अनेकांत सृष्टि विश्व के लिये अमूल्य देन है। मैं महावीर की दृष्टि से किसी भी विषय का वर्णन करने में सर्वथा असमर्थ हूं, लेकिन अनेकान्त दृष्टि की सर्जना का अनन्तवां भाग जो मुझे प्राप्त हुआ है, उसी दृष्टि को महावीर की देनरूप मानकर महावीर दृष्टि मानने को बाध्य हुआ हूं। चूंकि मुझे अपनी दृष्टि में वीर की दृष्टि जिस प्रकार भी भासित हुई है, वही तो मैं लिख बता सकता हूं।

शिक्षा, प्राणि जगत् का चैतन्य का विश्व विदित प्रकट रूप है। ज्ञान को ही शिक्षा शब्द से व्यवहृत किया जाता है। अन्तर यह है कि ज्ञान स्वतः भी सम्पादन किया जा सकता है, लेकिन शिक्षा परतः प्राप्त होती है। जो ज्ञान, गुरु, पुस्तक, ग्रन्थ, सूत्र, आगम, दृश्य, श्रव्य एवं जगत् के अन्य सभी प्रकार के जड़ और जीव पदार्थों से प्राप्त किया जाता है, शिक्षा बन जाती है। शिक्षा साधनों से प्राप्त की जाती है जबकि ज्ञान आत्मा और साधन दोनों से प्राप्त होता है। साधनों का ज्ञान सीमित होता है। सारे विश्व के तमाम साधनों से प्राप्त ज्ञान का अंत आ सकता है, लेकिन स्वात्म भासित ज्ञान अमित और अनन्त होता है। शिक्षा ग्रहण की जाती है जबकि ज्ञान ग्रहण भी किया जाता है और स्वतः भी प्राप्त होता है। तत्वार्थ सूत्र में स्पष्ट कहा है :—

"तन्निसर्गादधिगमाद्वा"

शिक्षा क्यों और कैसी देना चाहिये ? यही प्रथम विचारणीय है। क्या सभी ससंज्ञक प्राणियों के लिये शिक्षा आवश्यक है ? द्वितीय स्थान पर आता है।

जब प्राणी गर्भस्थ स्थिति में आता है तभी से उसके गर्भ धारण करने वाले प्राणि, चाहे वह पशु-पक्षी, मानव हो अथवा मक्खी, मच्छर आदि अन्य प्राणि हों, शिक्षा देना प्रारम्भ कर देते हैं या उनकी प्रक्रियाओं से शिक्षा मिलती जाती है। उसके आहार, व्यवहार एवं अन्य सभी क्रियाओं का असर गर्भस्थ पिण्ड पर पड़ता हैं। जब वह जगत् के सन्मुख आ उपस्थित होता है, गर्भ से बाहर निकल कर नई सृष्टि का विधान करता है; तो उसकी गर्भ धारण करने वाली माता सर्वप्रथम उसको लालन-पालन की क्रिया से शिक्षा देना प्रारम्भ कर देती है, ताकि वह जैसा चाहे वैसा बन सके। सारे उसके प्राप्त संस्कार उस छोटे शिशु प्राणि में जमते जाते हैं। यदि माता यह प्रक्रिया न करे, तो आगे जाकर वह प्राणि उस प्राणि समाज की प्रक्रिया में सम्मिलित होकर जीने में बहुत कठिनाई अनुभव करता है या उस प्राणि समाज से भिन्न स्थिति में पहुंच जाता है। जैसे—भंवरा अपने अण्डे देने पर उस पर गुंजार करता रहता है और उन अण्डों से कीड़े बनने में परिवर्तन करने को शिक्षा द्वारा अग्रसर करता है और बाद में कीड़े से भंवरे रूप में परिणत कर देता है। वैसे ही भैंस, गाय, शेर, रींछ, मानव, बन्दर आदि के किस्से हैं। मानव के गर्भस्थ पिण्ड मादा मानव और नर मानव द्वारा संस्कारों एव व्यवहारों से शिक्षित किये जाते हैं तभी से मानव रूप में अपनी सर्जना करने में सफल हो सकते हैं।

वीर, दानी, सुज्ञ, उत्तम पुरुष या अभिमानी जैसा भी मानव या मानवी हम बनाना चाहते हैं—उसे गर्भस्थ स्थिति में वैसे ही

खाने, पीने, रहने, बसने निबहने और व्यवहार करने के माता के आस पास में साधन जुटाने पड़ते हैं और गर्भ के बाहर निकलने पर भी वे ही साधन और परिस्थितियां पैदा की जाना परमावश्यक है। अतः प्राणि-निर्माण में शिक्षा का बड़ा महत्व है। आज जो विज्ञान का उत्कर्ष है, वह शिक्षा का ही कारण है। मानव जैसा विज्ञ प्राणि जितना अधिक विकसित हुआ है, वह सभी शिक्षा एवं शैक्षणिक प्रक्रिया से ही सम्भव है। शिक्षा वैसी देनी चाहिये जैसी सर्जना की आवश्यकता है। समय, स्थिति द्रव्य, क्षेत्र और भाव का ध्यान रखना परम उत्तम है। यदि इनका ध्यान नहीं रखा गया तो जैसा समाज चाहते हैं, उसका निर्माण नहीं होगा। अतः यह स्पष्ट है कि सभी प्राणियों के विकास में शिक्षा की परमावश्यकता है।

सबसे विकसित प्राणि मानव और मानवों में दिव्य देव हैं। उनकी शिक्षा कैसी होनी चाहिये और महावीर की देन उनकी शिक्षा के लिये वर्तमान के अनुकूल परिस्थिति क्या हो सकती है? इस मुद्दे पर विचार करने पर हमें विश्व कल्याण की भावना को प्रमुखता देनी होगी। मानव जैसा विकसित प्राणि यदि नृशम एवं क्रूर समाज का निर्माण करता है, तो व्यवस्था और शांति का आह्वान कैसे किया जा सकता है? मानव समाज में जिस शिक्षा से व्यवस्था और शांति बनी रहे और मानव स्व-पर का निरतर विकास करता रहे, वही शिक्षा उत्तम है। जिस शिक्षा से आध्यात्मिक विकास करने में भौतिक विकास बाधक न बने वही शिक्षा ग्राह्य है। भौतिक ज्ञान और भौतिक विकास अपने जीवन व्यवहार के लिये परम ग्राह्य है। आत्म विकास के लिये इन साधनों की भी परमावश्यकता है। सुदृढ़ शरीर में सशक्त आत्मा का वास होता है। साधन सम्पन्न समाज मे कोई दीन-हीन नहीं रहता; अतः आत्मा विकास में बाह्य साधन भी उपयोगी होते है। जो भौतिक विकास की शिक्षाएं विश्व शांति में साधक हैं, विश्व कल्याण में उप-योगी हैं, वे सभी ग्राह्य हैं। सबसे उत्तम कसौटी किसी भी शिक्षा की

यही होनी चाहिये कि "सा विद्या या विमुक्तये", शिक्षा वही है, जो मुक्ति के लिये हो, बंधन रहित करे। मानव को बन्धन का दुःख बहुत बुरा मालूम होता है, वह चाहे भौतिक परिग्रहजात बन्धन हो और चाहे वह कर्म बन्धन हो, मानव जब अपने चेतन प्रकाश को समझ लेता है, तो उसे पाने के लिये सतत प्रयत्नशील रहता है। प्रयत्न करने में साधक और बाह्य विश्व संरचना पूर्ण सहयोग करती है, अतः बाह्य जगत् की परिस्थितियां अनुकूल होनी चाहिये और साधन आत्मानुग होने चाहिये। इनकी व्यवस्था बिना सन्समाज संरचना के दुर्लभ है।

मानव सुख की खोज में असख्य अन्वेषण करता जा रहा है, लेकिन लालसाएं बढ़ती जा रही है। आवश्यकताएं वृद्धिगत हो रही हैं और आविष्कार भी बढ़ते जा रहे हैं। मानव को सच्चे सुख की प्राप्ति हो नहीं पा रही है। इसका प्रमुख कारण सत्य एवं शिव-मंगलकारी शिक्षा का अभाव। महावीर ने जो मुक्ति के लिये शिक्षा का समुज्ज्वल उपदेश दिया, वह विश्व संरचना, सुव्यवस्था और कल्याण के लिये परम ग्राह्य है। मानव सदुपदेशमय शिक्षा एवं सदवर्तनमय शिक्षा को विशेष प्रशस्त करें। प्राज्ञ पुरुषों को चाहिये कि अपनी आवश्यकताओं की सृष्टि में विश्व कल्याण का प्रथम खयाल रखें। शिक्षा का उद्देश्य आत्म कल्याण और विश्व शांति का होना चाहिये। शिक्षा चाहे पुस्तकीय हो, उपदेशीय हो, श्रव्य हो, भौतिक हो, दृश्यमी हो, भौगोलिक हो, खगोलिक हो, ऐतिहासिक हो, शारीरिक हो, वैज्ञानिक हो, व्यापारिक हो—जीवन को सांनन्द व्यतीत करने में उपयुक्त हो, अभाव अभियोग से दूर हो। व्यवस्था और शांति के निकट हो तथा विकास के अनुकूल हो—वैसी शिक्षाए उपयुक्त हैं। सिनेमा, व्यापार, अभिचार, युद्ध, उद्योग, कृषि, औषधोपचार, न्याय, अभिनय, अथवा अन्य सभी तरह की शिक्षाएं बुरी नहीं होतीं। यदि उनमें आत्मविकास, समाज, शांति और विश्व कल्याण की भावना का संपुट लगा हुआ हो। शिक्षा सदैव वर्तमान रहेगी, जब तक विश्व चलता रहेगा। शिक्षा का होना

शिक्षा का देना और शिक्षा प्रसार करना विश्व संचालन करना है। सभी प्राणियों में अपने-अपने समाज संरचना की शिक्षा का प्रचार है और इसीलिए मानव जैसे विकसित प्राणि का समाज विशेष स्वस्थ, सुन्दर और कल्याणकारी हो, ऐसी शिक्षा का प्रसार होते रहना चाहिये।

"णाणस्स सव्वस्स पगासणाएं"

ज्ञान सर्व प्रकाशक होता है। महावीर ने सीखने के लिए और ज्ञान सम्पादन के लिये प्रमुख साधन आत्मा के अनुकूल परिस्थिति को माना है। शिक्षा आत्मा में स्वयं निवास करती है, उसे जागृत करने के लिये जो प्रयास किया जाता है वही शिक्षा साधन और उपकरण तथा उपाय है। शिक्षा इसीलिए आवश्यक है कि साधनों और प्रसाधनों द्वारा आत्मा में रहे हुए ज्ञान कण प्रकट हो जायं। अनन्त ज्ञान का पुंज चेतन तत्व है। लक्ष्य उस चेतना को जागृत करना ही सच्ची शिक्षा है। जीविकोपार्जन करना शिक्षा का लक्ष्य नहीं अपितु जीवन जीना शिक्षा का उद्देश्य है।

जीवन जीने में आजीविका आवश्यक है, लेकिन आजीविका के लिये शिक्षा लेना जीवन आजीविका के समर्पण करना है। आजीविका जीवन का सन्धन है न कि साध्य। महावीर सदा कहते रहे हैं कि सत्यं, शिवं सुन्दरं की उपलब्धि ही जीवन है। जिस शिक्षा से सत्य और कल्याण तथा सुन्दरता मिलती है, वह शिक्षा जीवन को आनन्दमयी बनाता है।

गृहस्थ जीवन को चलाने के लिये भी उपर्युक्त वस्तुएं आवश्यक हैं। वह व्यापार, उद्योग, सेवा, कला, श्रम, कृषि आदि किन्हीं साधनों से आजीविका का उपार्जन करे और उसके निमित्त शिक्षा ग्रहण करे, लेकिन उसका सर्वस्व समर्पण आत्म-विकास के लिये जगत् की क्रांति के लिए और विश्व कल्याण के लिए हो।

"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचित् जगत्यां जगत ।
त्येन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृद्ध कस्यचिद्धनम् ।।

यह सपूर्ण विश्व और विश्व की वस्तुएं ऐश्वर्यमय जगत् की ही है । उन्ही से हम इच्छित वस्तु प्राप्त कर भोगे लेकिन; किसी के धन मे गृद्ध न हों । सभी वस्तुएं सबके लिये है । अपने अनुकूल साधनों को आवश्यकतानुसार ग्रहण करे । सभी पर अपना ममत्व न रखे या संग्रहमयी भावना का त्याग कर जीवन व्यवहार करें—यही शिक्षा का मूल उद्देश्य होना चाहिये । शिक्षा यदि परिग्रह बढ़ाती है और दु ख का कारण भूत होती है, तो वह सच्ची शिक्षा नहीं ।

शिक्षा, साहित्य, सगीत, कला और कृषि आदि सभी प्रकार की होनी चाहिये । शिक्षा जीवन को जीने के लिये होनी चाहिये । शिक्षा से समर्पण भावना पैदा हो—ऐसी होनी चाहिये । शिक्षा से संग्रह वृत्ति का विनाश होना चाहिये । जहां यह भावना है, वहा सभी शिक्षाए उत्तम हैं । ऐसी शिक्षा ससार मे धर्म की मूल होती हैं, शांति और व्यवस्था की प्रसारक होती है और उत्कर्ष की जननी होती है ।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली विनय को नाश करती है । ज्ञान सपादन के पवित्र उद्देश्य–समर्पण और मुक्ति से विमुख करती है । स्वयं को आत्म-बोध से वचित करती है । तडक-भड़क और अंधानुकरण, अनुशासनहीनता और भोग विलास, पारस्परिक कलह और गुटबन्दी बढ़ाती है और राष्ट्रीय भावना और आपसी प्रेम का नाश करती है । आज की शिक्षा का मूल उद्देश्य आजीविकोपार्जन करना या भोगविलास की ओर गति करना मात्र रह गया है । स्त्री-पुरुष का सह-शिक्षण बुरा नही है । वह स्वात्म ज्ञान से पूरित हो जाय, तो सह-शिक्षा समाजोत्कर्ष, धर्मोत्कर्ष और राष्ट्रोत्कर्ष मे बड़ी साधक होती है । इससे आत्मोत्कर्ष भी वृद्धि पाता है ।

**शिक्षक :**

वर्तमान युग में यदि शिक्षा-दाता गुरु अपने आप में पूर्ण विकसित हो जायं, तो इस युग की काया पलट हो जाय। किसी भी विषय का निष्णात यदि अपने ज्ञान को वितरण करने की भावना से प्रसार करता है और जीवन में समर्पण भावना को कायम रखता है, तो वह सच्ची शिक्षा का दाता शिक्षक कहलाता है। पैसे कमाने की दृष्टि से ज्ञान का वितरण करने वाला अपने आप में अपूर्ण है। वह शिक्षक नहीं, वह तो अभी शिक्षार्थी है।

"स्वान्तः सुखाय" का शिक्षक स्व-पर का कल्याणकारी होता है। जो अपने अन्तर हृदय को विकसित करने की भावना रखता है, वह दूसरों का अनिष्ट नहीं कर सकता। आजीविकोपार्जन करने का लक्ष्य रखने वाला शिक्षक अनेक दुर्गुणों का भण्डार बन जाता है। यही कारण है कि आज का शिक्षक न तो तुष्ट है और न ज्ञान से पुष्ट है। खाली कमाने जितना ज्ञान का ज्ञाता भार वाहक है।

महावीर की दृष्टि में शिक्षक, ज्ञान और क्रिया का पुतला होना चाहिये। चारित्र और व्यवहार का प्रतीक होना चाहिये। उपाध्याय शब्द का प्रयोग महावीर ने शिक्षक के लिये किया है—जो पास बैठ कर और पास रहकर पढ़ावे। दो घंटे पढ़ाकर या 6 घंटे पढ़ाकर अपने कर्तव्य की इतिश्री मानने वाला शिक्षक नहीं। वह अर्थ भिक्षुक है। पैसों के पीछे बिका हुआ सेवक है। शिक्षार्थी के जीवन की उन्नति का श्रेय अध्यापक को है। शिक्षार्थी को बनाने का श्रेय शिक्षक को है। कुम्भकार जैसे चाहे वैसे बर्तन तैयार करता है, उसी तरह शिक्षक जैसे चाहे; वैसे मानव तैयार करता है। जीवन निर्माण की सारी जिम्मेदारी प्रायः शिक्षक की ही होती है।

प्रथम शिक्षक माता, दूसरा शिक्षक पिता, तीसरे शिक्षक आसपास का जगत् और जगत् के प्राप्त तमाम साधन और चौथा

शिक्षक विधिवत् जीवनयापन कला का ज्ञान देने वाला होता है। प्रथम और अन्तिम शिक्षक की सम्पूर्ण जिम्मेदारी होती है कि वह कैसा मानव शिष्य तैयार करे। घड़तर कला में दो ही शिक्षक पूर्ण निष्णात होते हैं—माता और गुरु। अतः मातृ-शिक्षा और शिक्षक-शिक्षा का मुख्य ध्येय मानव समाज का नव-निर्माण होना चाहिये। मानव समाज का निर्माता ही शिक्षक होना चाहिये।

आत्म ज्ञान का धनी और व्यवहार ज्ञान की परख करने वाला अनुभवी शिक्षक–सच्चा शिक्षक है। पुस्तकीय ज्ञान और क्रियात्मक ज्ञान का वर्तमान शिक्षा शालाओं से प्रमाण-पत्र प्राप्त कर उससे अपनी आजीविका चलाने के निमित्त पाठन कार्य करने वाला शिक्षक सच्चा शिक्षक कैसे बन सकता है? शिक्षक में निम्न गुण होने आवश्यक हैं:—

1. अपने आप का ज्ञाता, 2. संसार के सभी विषयों का विज्ञाता, 3. व्यवहार कुशल, 4. धर्म निष्णात, 5. स्वोपजीवी, 6. कुशल प्रशासता, 7. समर्पण भावी, त्यागी, 8 विश्वास पात्र, 9. कार्य कुशल, 10. शिष्यों पर पालक वृत्ति, 11. संयमी, 12. अनेकांती, 13. समयाचारी, 14 चारित्र सम्पन्न और 15. सेवा भावी।

शिक्षा वितरक शिक्षक अनुभवी बनता जाता है। अपनी विद्याओं को छिपाकर रखने वाला अनुभवहीन हो प्रभाव को खो बैठता है। अतः शिक्षक को अपना ज्ञान सदा फैलाते रहना चाहिये। उसके यह विचार होने चाहिये कि मेरा ज्ञान संसार में व्याप्त हो जाय—जो ऐसे विचार से कार्य करता है वह विख्यात बन जाता है।

शिक्षा का अर्थ तालीम, विद्या, और इल्म कहलाता है। तालीम प्राप्त विद्यावान और इल्म का धनी विद्वान् शिक्षक उस्ताद, गुरु और मास्टर कहलाता है—आज के शिक्षक का व्यवहारिक अर्थ इतना मात्र है। अतः शिक्षा की परिपाटी में बड़ी तब्दीली और तंगदिली

आई है। उसी तंगदिली का परिणाम आज का सम्पूर्ण विश्व का संचालन है, जो प्रगतिकारक होते हुए भी विनाशकारी है। शिस्त पालने में भी शिक्षक का अर्थ उपर्युक्त होता है। अनुशासन पलाने में शिक्षा दी अर्थात् दंड दिया, उलाहना दी, समझाया, इंगित किया, ताड़ना की और तर्जना दी। शिक्षा खाली पढ़ाने के लिये ही होती, तो द्वितीय अर्थ शोभनीय नहीं रहता। अतः मैं कहता हूं शिक्षक खाली पढ़ाने और सिखाने के लिये नहीं, अपितु सीख का अर्थ शिक्षा और समझाइश करने के लिये भी है। शिक्षक—नवशिशुओं, नवबालकों और नवयुवकों को भावी पिता, प्रशास्ता, शिक्षक, कृषक, व्यापारी, डाक्टर, विद्वान्, तैराक, योद्धा, ज्योतिषी, खगोलज्ञ आदि बनाता है। निर्माता ही सच्चा शिक्षक है। वह चाहे अनपढ़ पिता और अज्ञा माता के रूप में ही क्यों न हो। पठित पिता और शिक्षित माता के रूप में भी निर्माता ही कहलाता है। दोनों के निर्माण में अन्तर है, फिर भी अपने कार्य का बोध पाने वाला शिक्षक इन दोनों में विशेष सबल है। राष्ट्र और विश्व का सच्चा निर्माता सफल शिक्षक है। युग निर्माता भी शिक्षक है। उपदेश को भी शिक्षा कहते हैं। धर्मोपदेशक, धर्म-प्रवर्तक, धर्म गुरु और धर्माध्यापक भी शिक्षक कहलाते हैं। वे संसार मे व्यवस्था और शांति प्रतिष्ठान के लिये उपदेश देते हैं।

शिक्षक का उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है। उसे रोजी के बदले अपने उत्तरदायित्व को भुला देना ही शिक्षक का अपराध है। गैर-जिम्मेदारी का जो असर शिक्षक समाज में आया है, उसमें शासन की शिक्षा व्यवस्था और नौकरशाही की शिक्षा ही प्रमुख कारण है। सेवक बनाना जहां शिक्षा का उद्देश्य हो, वहां शिक्षक कैसे तैयार हो सकते हैं? वहां पैसों के बदले नौकर ही तैयार होंगे। सच्चे गुरु नहीं मिल सकते।

माता का स्नेह और पिता का प्रेम तथा कुटुम्ब का वातावरण

देने वाला शिक्षक ही सच्चा शिक्षक होता है। इसीलिए गुरुकुलीय जीवन सदा उत्तम है। वहीं बच्चे संस्कार सम्पन्न और पूर्ण निष्णात शिक्षक तैयार हो सकते हैं। "बसे गुरुकुले णिच्च" शिक्षार्थी के लिये अत्यावश्यक है और शिक्षक भी कुलपति तुल्य होने जरूरी हैं।

**शिक्षार्थी :**

कैसा हो ? इस प्रश्न का उत्तर महावीर के वाङ्मय में निम्न प्रकार है :—

> अट्ठहिं ठाणेहिं सिक्खा सीलिति वुच्चइ ।
> अहस्सिरे सयादंते न य मम्ममुदाहरे ॥
> नासीले न विसाले, न सया अइलोलुए ।
> अकोहणे सच्चरए सिक्खासीलिति वुच्चई ॥

शिक्षा शील शिक्षार्थी हर समय हँसी करने वाला न हो—गंभीर हो, इन्द्रिय निग्रही हो, मर्मभेदी वचन बोलने वाला न हो, शीलहीन न हो, दुराचारी न हो, चटोरा न हो, क्रोधी न हो, और सत्यानुरत हो। शिक्षार्थी पांच कारणों से शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता।

> अह पचहिं ठाणेहिं जेहिं सिक्खा न लब्भई।
> थमा कोहा पमाएण रोगेणालस्सस्णया ॥

अभिमान से, क्रोध से, प्रमाद से, रोग से और आलस्य से। और भी शिक्षार्थी का गुण कहा है।

> जस्सतिए धम्मपयाइं सिक्खे,
> तस्सतिए वैणइयंपउजे ।

जिस गुरु के पास शिक्षा ग्रहण करे, उसके साथ सतत विनयशील रहे।

> नया विमोक्खी गुरु हिलणाए।

गुरुजनों की हिलना, निंदा, अवहेलना करने वाले का कल्याण नहीं होता।

महावीर के युग में और आज के युग मे गुरु और शिष्य, शिक्षक और शिक्षार्थी की व्याख्या मे कोई अन्तर नही है। शिक्षक और शिक्षार्थी के जो कर्तव्य पहले थे, वे आज भी है।

काक चेष्टा, बकोध्यान, श्वाननिद्रा तथैव च।
अल्पाहारी, विषयत्यागी विद्यार्थी पचलक्षणम्॥

नीति वाक्य भी विद्यार्थी के लक्षण को जाहिर करता है। अन्वेषणा मे, विषय की खोज मे काग के समान चेष्टा होनी चाहिये। बगुले की तरह विषय ग्रहण के लिये ध्यानस्थ रहना चाहिये और कुत्ते के समान निद्रारत होना चाहिये। जिस तरह काग इधर-उधर से आहार गवेषणा की कोशिश करता है, सतत् प्रयत्नशील रहता है; उसी तरह शिक्षार्थी शिक्षा की खोज मे निरतर प्रयत्नशील रहे। जैसे बगुला मछली पकड़ने के लिये एक पैर पर बिना इधर-उधर दृष्टि और मन डुलाये खड़ा रहता है, उसी तरह शिक्षार्थी को एक ध्यान से पढ़ने मे दत्तचित्त होना चाहिये—विद्या तभी ग्रहण की जा सकती है। इधर उधर दिमाग दौड़ाने वाले को शिक्षा नही आ सकती। जिस तरह कुत्ता सोया हुआ भी अनसोया रहता है, जरासी आहट से कान खडे कर सावधान हो जाता है—उसी तरह शिक्षार्थी चमक नींद वाला होना चाहिये। अल्पाहारी होना चाहिये। अधिक पेटू नही होना चाहिये। अधिक खाने वाला शिक्षार्थी आलसी और रोगी होता है; अतः विद्या ग्रहण नहीं कर सकता। विषय-वासना का त्यागी होना भी परमावश्यक है। चटोरा, लंपटी, कामी, व्यसनी और अन्य विषय-वासना का लोलुपी नही होना चाहिये—ऐसा व्यक्ति शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता।

आज का शिक्षार्थी प्रायः इन गुणों से परे है। अधिक दत्त-चित्त हो शिक्षा ग्रहण नही करना चाहता; लेकिन उत्तीर्ण होकर बिना पढ़े,

बिना परीक्षा के प्रश्न हल किये प्रमाण पत्र लेना चाहता है। प्रमाण पत्र भी अपने शरीर और आत्मा को परतन्त्र बना सुखोपभोग के लिये, अर्थोपार्जन हित लेना चाहता है। यही बड़ी विडम्बना आज के शिक्षार्थी में है। आज का शिक्षार्थी पढ़ने में चेष्टा नहीं करता है और पार्टीबाजी में लगा रहता है। पढ़ाते समय ध्यान से ग्रहण नहीं करता, शिक्षकों की धज्जियां उड़ाता है। पढ़ने मे चुस्त नहीं रहता, जब मन में आया तोड़-फोड़ में भाग लेता है। सोता है, तो ढोल बजाने पर भी नहीं जगता। जगता है, तो रात भर सिनेमाओं, महफिलों, यार दोस्तों की धींगा मस्तियों या नवयुवतियों की छेड़-छाड़ मे समय व्यतीत करता है। दिन चढ़े तक सोता है। रात को एक दो बजे तक सोता है। अंग्रेजी की "Early to bed and early to rise, makes a man healthy, wealthy and wise."

कहावत को भी चरितार्थ करने में अपने आप को पूर्ण असमर्थ पाता है। खाता है, तो खाने का ध्यान नही रहता है और जो हाथ में लगे सभी विषयों और व्यसनों का दास बन जाता है।

अतः महावीर का उद्बोध है कि "उठिए नो पमाइए" और "समयं गोयम मा पमाइए"। उठो ! प्रमाद मत करो और समय मात्र का भी प्रमाद मत करो। तुम चाहे शिशु हो, बालक हो, नवयुवक हो, युवक हो, प्रौढ़ हो और वृद्ध हो सदा शिक्षार्थी की तरह रहो। विश्व से, गुरु से, परिवार से, परिस्थिति से और प्रकृति से कुछ सीखो। सदा सीखते रहो। सतत् अध्ययनशील रहो। जब तक शरीर में आत्मा है, तब तक पल मात्र भी व्यर्थ न खोओ। अपने भीतर के देव को जगाओ; अपने भीतर की शक्ति को प्रकट करो और विश्व के कण-कण में अपने चेतन प्रकाश को फैलादो। पूर्ण बन जाओ।

महावीर जयन्ती स्मारिका सन् 1975

# धर्म और पंथ

समय अपनी कलाओं को संसार के प्रत्येक प्राणी और पुद्गलों पर किस तरह प्रस्फुटित करता है यह किसी से छिपा नहीं। आज संसार वैज्ञानिक युग का यौवनकालीन सम्पूर्ण विभूतियां प्राप्त कर वासना के निकटतम स्वामित्व को प्राप्त हुआ है। समय की गति किसी देश, जाति और धर्म को कभी एकसा नहीं रहने देती। समय मार्गदर्शक और पथभ्रमक दोनों गतियों को अनुशीलन करता है। आज एक देश या जाति अथवा धर्म किसी एक सिद्धान्त के लिए पूजा जाता है। वही समयांतर में उसी सिद्धान्त द्वारा निकृष्टमय गिन जाता है। क्या ही अनोखी चाल इस काल व्याल की है? समय पर जो पनपता है, फूलता है तथा फलता है, वही समय आने पर नष्ट हो जाता है। संसारार्णव का कोई भी अणु ऐसा नहीं जो इस ग्राह से ग्रसित न हो अथवा यों कहिए (सैद्धान्तिक दृष्टि) से कि संसार की वस्तुएं ही अपने परिवर्तन द्वारा ऐसे मौके तैयार करती रहती हैं। यह भी देखा जाता कि नवकालीन परिणति, नवरंग ढग को ही पसन्द करती है। जब स्वाभाविक रूप ही (उत्पाद् व्यय ध्रोव्यात्मक) ऐसा है तो एक निर्द्वन्द्व योगी को ऐसे परिवर्तनमय संसार की कोई भी चीज नई दृष्टिगत नहीं होती। वह सब को स्वमय और सब में खुद को देखता है तथा उसकी परिणति में अद्भुत रस ग्रहण कर आत्म संतुष्ट होता है। लेकिन संसार में ऐसे योगी (सर्वज्ञ) पुरुष मिलना बहुत दुष्कर है। संसार के लिए ऐसे ही विरले सन्त समयानुसार उचित पगडण्डियाँ या

सांसारिक उलझनों से बचने के लिए शांति-पथ बतला जाते हैं। वे हमारे लिए पूज्य और पुरुषोत्तम माने जाते हैं। उन्हीं को हम अवतार, मार्गदर्शक, तीर्थंकर या पैगम्बर आदि नाम देते हैं। ऐसे अवतरित पुरुषसमों द्वारा प्रसारित मार्ग के सिद्धान्तों को, जो कि उस समय की परिस्थितियों के अनुकूल होते हैं, स्वस्वेच्छु पक्षान्ध उसी रूप में अपना कर अपने को धर्म-रक्षक समझते हैं। वे धर्म-रक्षक यह नहीं समझते कि समय धर्म बलवान होता है। एक ही समय में सिद्धान्त मान्य और दूसरे समय के लिये प्रतिकूल बन जाते हैं। वे लकीर को खींचे जाते हैं और उनके अनुयायियों को भी वैसा करने का उपदेश दे जाते हैं ताकि उन सब का वह मत नीचा न गिर पड़े।

अहा, क्या ही आश्चर्य है कि एक तरफ तो वह अपनी लम्बी टांगें पसारता है और दूसरी ओर नवभराम नवशैली को अपनाने वाला दूसरे धर्म (पंथ) का दृश्य सन्मुख को आता है फिर द्वन्द्वमय भाव कैसे जागृत न हों—अवश्य ही वे दोनों एक दूसरे की बुनियाद को नेस्तनाबूद करने को उतारु हो जाते हैं और ऐसा होने से एक का नाश अवश्यम्भावी है। यदि नाश न भी हुआ तो भी ससार में दोनों धर्म अशान्त वातावरण द्वारा द्वेष तो जरूर पैदा कर जायेंगे। अब रहे भिन्न-भिन्न समय के भिन्न-भिन्न पंथ (धर्म) जो कि एक ही समय में फल फूल रहे हैं या अपने अस्तित्व को लिये हुये हैं वे भी चुपचाप अपनी गति को रोक नहीं सकते; या तो वे नवकालीन परिस्थितियों को उनमें कुछ न कुछ परिवर्तन जरूर करेंगे अथवा मृत (डेड) रूप में अपने असली अस्तित्व को खो देंगे। परिवर्तन करने वाले और उसी में अपना हित चाहने वाले फिर कालान्तर में जिन्दे रह सकते हैं साथ ही अपनी बाड़ाबदी भी कायम रख सकते हैं, परन्तु तद्रूप चाहने वालों की गिनती नहीं रहेगी।

उपरोक्त वर्णन से जान गये होंगे कि समय की विचित्र चाल

धर्म को पंथ और पंथ को धर्म का रूप भी दे देती है। कोई धर्मरक्षक कदाग्रही होता है। वह अपनी मान्यता से बाहर वालों को मिथ्यात्वी समझता है और धार्मिक मेलजोल या कुछ भी व्यवहार करने में पाप समझता है ऐसे सिद्धान्तों की पुष्टि करता हुआ पक्की वाड़ाबन्दी करता है और धर्म प्रवर्तक को धोखा देकर स्व पूजा के खातिर धर्म के नाम पंथ कायम कर जाता है, चाहे फिर वह अपने को कितना ही तीर्थंकर या प्रवर्तक का अनन्यतम ही क्यों न समझे। जिसमे समन्वय की बुद्धि नहीं, जिसमें—तत्वान्वेषण की शक्ति नहीं, जिसको स्याद्वाद का ज्ञान नहीं तथा जिसको इतनी ही सूझ नहीं कि यदि हर एक धर्म पंथ अपने विरुद्ध क्रिया काण्ड कराने वालों को मिथ्यात्वी और मायावी समझे तो फिर सम्यकत्वी कौन हो सकता है? अथवा यों कहिये कि मान्यता के अहंत्व में आया हुआ दूसरे को हेय समझता है। वह पंथ-पोषक छिद्रान्वेषी, धर्म और संसार को दुखमय बनाने वाला होता है। इसी श्रेणी के लोग धर्म को पंथ बना जाते हैं। जब कोई भी प्रचारक अपनी दृष्टि से दृश्य (बाह्यरूप) को न देखकर दृष्टा आन्तरिक का चिन्तवन करे तत्वावलोकन का मार्ग ग्रहण कर उसके द्वारा स्वानुभूत सत्सिद्धान्तों को समन्वय रूप मे प्रचार करें तो वह शान्त्यर्थ पंथ को भी धर्म बना जाता है।

देखा जाय तो साधारण बुद्धिवालों पर विशेष बुद्धिवालों का जो निष्प्रयोजन प्रभुत्व है वही संसार मे धर्म और पंथ का उत्पादक है।

मनुष्य इतना स्वार्थी और जानकार होते हुए भी उससे बढ़कर विशेष बुद्धिवाले के झपटे से वह भी नहीं बचा है। उसको वाड़ाबन्दी में रहना ही पड़ता है और जिधर भी उसका पंथ-रक्षक फिरने को कहे उधर फिर जाता है। भारत आज ऐसे ही धर्म-गुरुओं का गुलाम बना हुआ है। एक-एक धर्म (पंथ) के अनेक सम्प्रदाय, एक-एक सम्प्रदाय में अनेक फिरके और एक-एक फिरके में बहुत सी वाड़ाबन्दी श्रेणियां

किस तरह पनप रही है ? । यही एक आश्चर्य है । एक गिरोह दूसरे समूह वाले से यदि प्रेम शृंखला से शृंखलित हो तो वह श्रेयस्कर और शांतिप्रद हो सकता है फिर पंथ भेद से भी किसी सम्प्रदाय को नुकसान नहीं पहुंच सकता लेकिन ऐसा होना महान् दुष्कर है । कारण, सम्प्रदाय करने वाले ही स्वसम्प्रदाय से दूसरी सम्प्रदाय को हीन समझते हैं और इसी तरह से प्रचार से द्वेषाग्नि में घी होमते रहते हैं, फिर प्रेम शृंखला से शृंखलत होना कैसे निभ सकता है ?

अहत्व, ममत्व या मान मद का जब तक अन्त न होगा तब तक पंथ अपनी टांगें लम्बी कर पड़े रहेंगे ।

संसार अनादि अनन्त प्रवाह वाला है और ऐसे कार्य होने कोई नई बात नहीं है फिर भी शांति स्थापनार्थ कोई विभूति या सत्प्रचारक पैदा न हो तो यह सत्यज्ञान, समन्वय बुद्धि और पारस्परिक प्रेम शृंखला नजर ही न आवें ।

आज इस वैज्ञानिक युग में भी इतने सारे मजहब और फिरके है कि उनका हजम करना बहुत ही कठिन है । आजकल के ईसाई, मुसलिम, बौद्ध, हिन्दु और जैन आदि बड़े-बड़े पंथ रोमन, केथोलीक, प्रोटेस्टेंट, सुफिस्ट, शिया, सुन्नी, वैष्णव, शेव, दिगम्बर, श्वेताम्बर आदि फिरके तथा उसमें भी सम्प्रदाय, गच्छ, गुरु परम्परा आदि वाड़ाबन्दियां न मालूम कितनी श्रेणी तक पहुंच गये हैं कि उनका पूरा पूरा ब्यौरा प्राप्त करना भी कठिन हो जाता है । ये सब अहंत्व के परि-पक्व रूप हैं । इन सब पंथ पोषकों में वह सद्‌बुद्धि कब आवेगी जबकि वे सब ही एक ध्येय मुक्ति (Salvation) तो चाहने वाले अपने भिन्न विभागों को अपेक्षाकृत प्रेम से बर्तेंगे ।

पाठको ! जरा इस विचार पर तो आइये कि धर्म क्या चीज है और पंथ क्या ? धर्म क्या बतलाता है और पंथ

क्या ? धर्म के प्रचारक कौन होते हैं और वे प्रचार किस लिये करते हैं ? तथा पंथ कौन कैसे बनाता है ? धर्म की नींव क्या है और पंथ की बुनियाद किस पर है। मनुष्य के परमार्थ और धर्म तथा स्वार्थ या एकान्तवाद और पंथ में कितना गहरा सम्बन्ध है ? आदि प्रश्नों पर भलीभांति विचार करने से यही मालूम पड़ेगा कि संसार की स्वार्थमय भ्रान्ति सबको दुखमय बना देती है।

संसार का एक भोला आदमी भी ऐसे प्रपञ्चमय मार्ग से वंचित नहीं रहता। न मालूम इस काल-व्याल में ही सारी ताकत भरी है या इस स्वार्थमयी दुनियादारी में ? धर्म प्रवर्तक समयानुकूल किन्हीं मुख्य सिद्धान्तों को लेकर अपना प्रचार करते हैं तो मार्ग पोषक उन्हीं सिद्धान्तों को लिये अपनी तान खींचते हैं। ऐसे ही संसार के अशान्ति-वर्द्धक विषैले सर्प जहर उगलते हैं और धर्म के नाम संसार में त्राहि-त्राहि मचा देते हैं।

## धर्म

धर्म का मतलब स्वभाव या तन्मय कराने वाला मार्ग। जिसका खास उद्देश्य स्वाभाविक शांति को प्राप्त करने का होता है। स्वभाव, स्वभान, स्वतेज, या आत्म रूप बताने के पूर्णात्म शान्ति कराने के लिए, पुद्गलाभिमुख से आत्माभिमुखऔर उससे आत्म संतृप्त बनने के लिए जो महान् पुरुष अपने सत्य अनुभव या अनुभवों द्वारा प्रचारित सिद्धान्त (अहिंसा, सत्य, स्याद्वाद) 'धर्म' गिने जाते हैं।

## पंथ

स्वबुद्धि के अनुकूल प्राप्य सिद्धान्तों को मुख्य करके इन्हीं में धर्म या यही धर्म का मार्ग है। ऐसे एकान्तवाद का पोषक 'पंथ' गिना जाता है। स्वार्थमय ऐसे भ्रम से जो नाम पोषक; समझाने के निराले ढंग से भोले मानवों को भ्रम में डालकर सच्चे रूढ़ि पोषक या मार्ग पोषक

तैयार करते हैं वे ही अपना भयंकर पंथ या मजहब दुनिया को लड़ाने के लिए, अशांति बढ़ाने के लिए या यों कहिए कि अनन्त के चक्कर में डालने के लिये फैला जाते हैं। (सत्पथान्वेषी सर्वदातत्वान्वेषक और समन्वय करने वाले ही होते हैं) उनके रक्षक गुरु उनको उसी तरीके से पालते हैं ताकि वे स्वतन्त्र खुली हवा में स्वभान को प्राप्त न हों, जिस प्रकार पले हुये चौपाये खूंटे पर आई हुई घास या खाना डण्डे की मार सहकर भी खाना पसंद करते हैं और बदले में वे दूध देते हैं तथा अन्य कामों में भी आते हैं। उसी तरह भोले मानव उन ठगारे रक्षकों या धर्म गुरुओं के फंदे में फंसकर उसी में रहना अर्थात् उनकी बाड़ाबन्दियों के बन्दी बनना पसंद करते हैं, यहाँ तक कि उनके विरुद्ध चलने की तो हिम्मत ही नहीं कर सकते, परन्तु रक्षक की आज्ञा पाकर पंथ के खातिर प्राण देने में अपना धर्म और हित समझते हैं। इससे संसार के एक विभाग के गुरु के या धर्म रक्षक के आश्रित जनता दूसरे फिरके के मनुष्यों से लड़कर संसार मे अशान्ति फैला जाती है। वे धर्म के लिए कुर्बान होना नहीं पन्थ के लिये या उनकी रक्षा के लिये मर जाना बतला जाते हैं। चाहे वे गुरु या उनकी रक्षित जनता अपने मार्ग पर कितना भी अभिमान क्यों न करें वे सिर्फ अशांति के सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं छोड़ जाते है।

## पारस्परिक अन्तर

धर्म शांति का मार्ग बतलाता है जबकि पंथ अशान्ति और क्लेश का प्रचार करता है। धर्म समन्वय का मार्ग बतलाता है तो पंथ खण्डनमण्डनात्मक सीढ़ी पकड़ता है। धर्म ऐक्य की बिगुल बजाता है तो पंथ उछृंखलता की रण-नाद करता है। धर्म स्वभान या स्वभाव का ध्यान दिलाता है और पथ स्व (आत्म) पर (अन्यात्मा या जड़) का द्वेषी बनाता है। धर्म आत्माभिमुख करता है और पंथ से बाह्य पुद्गलाभिमुख होते हैं। धर्म स्वतंत्रता देता है तो पंथ परतंत्रता की बेड़ी

पहिनाता है। धर्म आंतरिक शान्ति का अनुभव कराता है और पंथ रण-भूमि में कमर कसकर खड़ा रहता है कि कहीं अन्य पंथानुगामी अपने अनुयायी को उसकी तरफ न कर ले। इसी तरह परमोत्कृष्ट शिव-भूमि (मुक्ति) को पहुंचाने वाला एक धर्म ही है। पंथ तो संसार की असीम उद्दाम कामनाओं को वश में कर अनन्त में समाने वाला धोखेबाज विश्वासघातक रास्ता है जिसका गुलाम बनकर सारा संसार चौरासी में घूमता हुआ अनन्त की वृद्धि कर रहा है।

**प्रचार**

धर्म का प्रवर्तक कोई विशेष विभूति जो कि संसार के भिन्न-भिन्न मार्गों में समय-समय पर लोकैषणा या पापाचरण को दूर कर संसार को शांति देने के लिये "धर्म संस्थापनार्थाय विनाशाय च दुष्कृताम्" सत्य बताने के लिये जन्म लेती है और स्वानुभूत यथातथ्य सिद्धान्तों को फैला जाती है। थोड़े ही समय के पश्चात् लोकैषणा जो कि संसार की मूल माया है अपना असर फैलाती है। इस छूत से उनके अनुयायी भी नहीं बच सकते। सत्यासत्य का निर्णायक नहीं रहने से और स्वबुद्धिबल प्राबल्य से जैसा दिमाग में आया, धर्म बना लिया, परुपणा करली। ऐसी मान्यता वाले एक दूसरे को मिथ्यात्वी समझते हैं। ऐसे पंथ प्रचारक इस तरह से पंथ प्रचार करते हैं।

यही कारण है कि आज जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर एक विभूति थे। उनके सिद्धान्त स्याद्वाद और नयवाद पूर्ण समन्वय करने वाले थे। वे परस्पर के झगड़ों और वादों तथा रहस्यों को प्रेम से समझाने के तरीके थे। उनका प्रयोग महावीर ने ऐसा किया कि उस समय के पापाचरण (यज्ञ, देवी स्थान आदि में होने वाले) और पाखण्ड (भिन्न-भिन्न लोगों के द्वारा फैलने वाले) दुनिया से नेस्तनाबूद कर दिये। उसीका यह नतीजा है कि आज वे ही वेद हमारे लिए अहिंसक बन गये हैं। क्या ही अजब शक्ति उस विभूति में थी। उस

विभूति ने सर्वत्र ऐक्य प्रचार किया। हमें उनके अनुयायियों को देखते हुए नयन नीचे करने पड़ते हैं। उस स्याद्वादमय मार्ग के अनुचर ही आपस में एक दूसरे को मिथ्यात्वी, मायावी और महावीर के सिद्धान्तों के प्रतिकूल प्रवृत्ति करने वाले पाखण्डी मानते हैं और निज को उनका अनन्य भक्त मानते हैं।

अहा! कितना घोर अन्धेरा इस ज्योति के नीचे कर दिया। सूर्य को छिपा दीपक सन्मुख ले लिया है। भला, एक धर्म प्रवर्तक के अनुयायी एक ही सिद्धान्त को मानने वाले, एक सिद्धान्त भी ऐसा जो प्रेम शृंखला से शृंखलित हो। उन पर कभी विचार विमर्श न कर केवल समय या अभिग्रह के प्रभाव से पड़े हुए फिरके आज एक से दो माने जाते हैं। जिस एकान्तवाद का भगवान् ने बिल्कुल निषेध किया। उसी के कीड़े बनकर हमारे यह धर्म गुरु समाज में एकता के लिये कोशिश भी नहीं करते। क्योंकि ऐसा करने से उनकी गुरु परम्परा नष्ट हो जाती है। धर्म रक्षकों को क्या पड़ी कि वे अपना मान भगवान महावीर को सौंपकर, एकत्रित होकर उन सिद्धान्तों पर विचार तो करें कि यह सारा अन्धेर कैसे हुआ? इनको तो श्रावक-श्राविकाओं की मान पूजा ही तो लेनी है। इनको क्या पड़ी कि वे इस धर्म की रक्षा करें। पण्डितों के लिए सबसे अधिक उपहास की बात और क्या हो सकती है कि जिन प्रवर्तक और सिद्धान्तों के लिये ये जैनी गौरव करते हैं उन्हीं को जड़मूल से उखाड़ रहे हैं। भला इससे बढ़कर मूर्ख और कौन होगा? जो कि सहारा देने वाली डाली के मूल को काट रहा हो। "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाली कहावत चरितार्थ कर रहा हो। मैं क्या लिखूं? जिस अहिंसा रूपी वरुणास्त्र द्वारा प्रेम वर्षा हुई आज उसी वरुणास्त्र पर गौरव करने वाले रक्त की नदियां बहा रहे हैं। एक नहीं केसरियाजी के हत्याकाण्ड सरीखे कई उदाहरण अपने सन्मुख मौजूद हैं। यह क्या धर्म है कि ढोंग?

क्या एक दिगम्बर पक्षवाला श्वेताम्बर और श्वेताम्बर दिगम्बर को, स्थानकवासी और तेरापंथी मूर्ति पूजकों को, तेरहपथी स्थानकवासी को और तेरहपंथी स्थानकवासी तेरहपंथी को, तेरहपंथी बीसपंथी को आपस में मिथ्यात्वी और धर्म विरोधक नहीं समझता और द्वेष नहीं करता है ? यह द्वेष करना नहीं, यह तो महावीर के सच्चे ठगारों की ठगाई है। भगवान् ! कब हमें इन धर्मगुरुओं और ठेकेदारों के, जो कि केवल रक्षक ही नहीं भक्षक बन बैठे हैं, पञ्जे से छुड़ायगा ? कब अवतरित हो सत्पथ बतलावेगा ये आज तेरी सन्तानें एकान्तवाद द्वारा स्याद्वाद सिद्धान्तवृक्ष की जड़ काट रहे हैं। संसार में अशांति का हुल्लड़ मचा रहे हैं। हे ईश ! यहां इतना ही नहीं यहां तो ऐसा भी देखा जाता है कि एक ही सम्प्रदाय-क्रियाकाण्ड को मानने वाले इन धर्मगुरुओं ने क्या अजमेर और अहमदाबाद सरीखे भूतपूर्व सम्मेलनों को भी वृथा बनाने के निन्द्य प्रचार नहीं किये ? क्या सर्व शक्तिमान महासंघ की सच्चाइयों को भी नहीं ठुकरादी। परन्तु कांन्फरन्स तो उनकी माता है, देवी है।

उसने अपने बच्चों को उछलते देखकर अपना मान रखकर भी उनको सन्तुष्ट किया। क्या सन्तानों का यही कर्तव्य होता है ? हे परम ज्योतिर्मय ! क्या कहें, इनकी मान की भूख लाखों नहीं करोड़ों रुपये इन भोले श्रावकों के नष्ट करने पर भी नहीं बुझती। इनकी अहंता पिंजड़े में बन्द करने पर भी नहीं जाती। क्या वहां महावीर के सिद्धांत कभी कानों तक पहुंच सकते हैं ? उपदेश देने को तो रसीले-भड़कीले लोकसेना को बढ़ानेवाले अपने सम्यकत्व रूपी वाग्जाल से बद्ध करने वाले एक्य लहर से लहरित भले ही दे देंगे; पर हम कौन हैं ? किस-लिए किस रूप में क्यों हैं ? और हमें क्या करना है ? इनका कभी एकान्त में सहृदय बन आत्म साक्षी से विचार भी किया है ? अरे जिस विभूति को प्राप्त करने के लिए वे निरन्तर अभ्यास और अध्यास कर रहे हैं उस विभूति को प्राप्त करने वाले सोऽह का भी

कुछ सच्चा बोध हुआ है या नहीं ? कहां तक बताऊं जिनको सम्यग् दर्शन तो दूर रहा तत्वज्ञान या आत्मज्ञान भी न हो और वे धर्म के ठेकेदार रक्षक बनकर अपने सन्मुख हो आते हैं यह कितने शर्म की बात है। आप भी बताइये कि ऐसे रक्षक या गुरुओं के आश्रित जनता का क्या हाल होता है ? जो धर्म, कर्म और आत्म-बोध नहीं करता उसका उपदेशक बनना ठीक नहीं है।

इतने में ही समझ लेना काफी होगा कि धर्म का मूल परत्व में स्वत्व और पंथ का मूल स्वत्व में परत्व का भान होना है अर्थात् आत्म तुल्य भावना और वर्तना परत्व में (दूसरे जीवों के साथ) होना धर्म का मूल है। यह भी सत्य है कि परत्व (पुद्‌लत्व) में स्वत्व (आत्म) को बोध करना धर्म नहीं है, परन्तु सब वचन अपेक्षित होते हैं। ये स्वत्व और परत्व शब्द अपने और पराये के लिए अर्थात् समत्व मार्ग के लिए वापरे हैं। सबको स्वमय समझना, स्वसम आचरना, दृष्टा (सत्व) को देखना और बाहरी दृश्य (पुद्‌गलादि के पिण्ड) का ख्याल न करना अर्थात् आत्मा को नहीं भूलना, बाहरी दृश्य संसार के माया वर्धक और अशांति प्रचारक हैं; ऐसा विचारना, सम्यग्‌दर्शी, (जिसको आत्मदर्शी कह सकते है) होना आत्मिक ज्ञान में प्रवेश करना है। आत्मा को स्वपर की भेदभाव पूर्ण नीति सिखाना अच्छा नहीं।

दुःख सुख या विद्रोह बढाने वाला हमारा यह असम्यग् ज्ञान है। स्वपर की भूल है स्वत्व में परत्व की कल्पना है। "संमत्तदंसी न करेइ पावं" कितना गहरा हृदय स्पर्शी यह महावीर का सैद्धांतिक पद है। जो आत्मा का दर्शन कर लेता या जीवाजीव का यथा तथ्य रूप जान लेता है; वह कार्याकार्य का निर्णायक हो जाता है; अतः ऐसा व्यक्ति पापात्मा नहीं हो सकता।

भला, 'जे एगं जणई से सव्वं जाणई, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ", पद को आदर देने वाले कभी विद्रोह या पन्थ के झगड़े को

पसन्द करेंगे ? उनके हृदय हर समय प्रेम लहर से लहरित रहते हैं। वे सबको सब तरह से और सब रूप में केवल आत्म-दर्शन करने से, केवल ज्ञान प्राप्त करने से जान सकते हैं और सबको स्वरूप में देख सकते हैं अर्थात् जिनको सत्य आत्म-दर्शन हो जाता है वे कभी भी इन प्रपंचों को पसन्द ही नहीं करेंगे। उनको भेद ज्ञान का कुछ भी भान नहीं होगा और सत्यादि व्रत उनके लिए स्वमय से हो जायेंगे फिर किसी बन्धन की जरूरत नहीं।

आजकल सच्चा ज्ञान हमारे सरीखे भोले मानवों को यह पन्थ सिरदार नहीं बतलाते और यदि बतलावेंगे भी तो सम्प्रदाय या पक्ष की ओट में। जिससे कि कहीं यह विशेष विचार को अपने दिमाग स्थान न दे सके। अब महावीर के सेवक और पुजारी कहां रहे ? ज्यादा कहा जाय तो यह कह बैठेंगे कि 'क्या तुम हमारे वकील हो या परीक्षक हो ?' आजकल कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं जो एक दूसरे की त्रुटि की परीक्षा कर सके, सच्चा रास्ता बतला सके। किसी को कुछ भी कहने का हक नहीं। जैसा चलता आया है वैसा ही चलता रहेगा।"

आज कल के तमाम धर्म; पन्थ रूप के कारण ये सब एक दूसरे से द्वेष करने वाले बन गए है, उनको धर्म न कहकर पंथ कहना ठीक जंचना है। क्या ईसाई, क्या बौद्ध वेदान्ती, सिख, मुस्लिम, जैन सब के सब एक पंथ हैं। मार्ग हैं—भिन्न-भिन्न ठेकेदार के ठेके हैं। इनके ठेकेदार अपनी दुकानों के ग्राहक बढ़ाने में ही लगे रहते हैं।

विशेष क्या लिखें ? जब तक इन सब पंथों के प्रवर्तक की सच्ची निगाह की तरफ या उनके सत्सिद्धान्तों की ओर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन सबको दृष्टि में रखते हुए विचार के साथ सत्समन्वय-सच्ची परूपणा नहीं होगी तब तक ये अशान्तिवर्द्धक पन्थ यहां से लोप नहीं होने के।

लोगों के दिमाग ही बचपन से उनके धर्म-गुरु, पादरी, मुल्ला आदि ऐसे ही बना रखते हैं ताकि वे दूसरे सिद्धान्तों या पक्षों को झूठे समझ कर घृणा करें। इस क्रिया में इन सबका क्या तथ्य या रहस्य छिपा हुआ है। क्यों इतनी बाड़ाबन्दी करते हैं? क्या इनको यह भी खबर नहीं कि कौन अपना अस्तित्व कायम रख सका है? सबको एक दिन काल के ग्रास से ग्रसित होना है। संसार की एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में काया पलट करना है। इसका भी कोई भय नहीं कि हम व्यर्थ ही बाड़ाबन्दी द्वारा क्यों माया में फंसते हैं—पाप मोल लेते है?

पाठको! संसार के सभी जीव सुख चाहते हैं; पर खोजते हैं संसारिक प्रपंचों में। उकता जाते हैं और मुंह से यही कह बैठते हैं कि हा! किधर भी सुख नहीं; चैन नहीं। संसार में रहने वाले व्यक्ति यदि इच्छा शून्य सर्व कार्य करे अर्थात् अन्त हृदय स्वच्छ और वासना से परे रखे तो वह संसार और परम मार्ग दोनों का आनन्द, बिना चित्त के घबराये या खेद पाये ले सकता है।

सब कार्यों को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से विचार कर समभाव में वर्तता हुआ श्रेयस्कर मार्ग का अनुगामी बन सकता है। इसमें धर्म भावना सन्निहित है। किन्हीं अंशों में यह धर्म भावनाओं को अधिक पुष्ट करता है। मनुष्य जितना जिस चीज में आसक्त रहता है उतना ही उसके वियोग में दुःखी होता है। पर समुचित कभी खिन्न नहीं होगा। यही धर्म का मार्ग है।

## उपसंहार

यह सारा अनादि अनन्त प्रवाह वाला जगत् अनन्त कोटि या श्रेणियों में अनन्त को सान्त और सान्त को अनन्त रूप बनाने वाली विचित्र क्रियाओं द्वारा संसार के प्राणियों को अनेक जाल रूपी बीथियों में जकड़ रहा है जिससे हमारे दिन रात काम करते रहने पर भी हमें कोई सुध नहीं पड़ती। हमें कोई शांति का मार्ग दिखाई नहीं देता

न मालूम यह विचित्र लीला कैसे बनी है? जो आता है वही इसी चक्कर में फंस जाता है और दिन-रात अपनी धुन को लिए फिरा करता है—कुछ न कुछ करता ही रहता है।

ऐसे सांसारिक वातावरणों में हर किस्म के उलट फेर सब प्राणी अपनी बुद्धि के अनुकूल करते ही रहते हैं अर्थात् सब प्राणी अपने हाल में मस्त रहते है। इतना सब होते हुए भी प्राणी अपने सरीखे अन्य जीवों से किसी न किसी रूप में सम्बन्धित रहता है क्योंकि ऐसा हुए बिना उसकी बहुत सारी गति रुक जाती है और जंगली से भी गया बीता मृत सा हो जाता है।

इस तरह संसार के व्यवहार से परिवेष्टित प्राणी अपने समूह के साथ बर्तते हैं। उनका समाज जो जो कार्य करना अच्छा समझता है उनको भी वैसा ही समझना और करना पड़ता है तथा जो बुरे हों या बुरे माने जाते हों उन्हें छोड़ने पड़ते हैं। सारांश यह है कि समाज जैसी व्याख्या करता है वही उनके लिए नीति या धर्म और अनीति या पाप हो जाते हैं यही सबब है कि हम पाश्चात्य देशों को नीति या धर्म को अधर्म या म्लेच्छ धर्म कहते हैं। इन दोनों में अन्तर यही है कि अपनी अपनी मुख्य पार्टी अपने देश और समस्यानुकूल जो कुछ भी नियम बनाती है वही उनके लिए ठीक होते हैं, इसीलिए एक पार्टीवालों को दूसरी पार्टी के नियम नहीं गमते। पसन्द नहीं पड़ते। तात्पर्य यही है कि यदि न्यायमार्ग से देखा जाय तो अपने-अपने स्थल पर सब शोभा पाते हैं। इसीलिए प्रत्येक प्राज्ञ पुरुष या धर्म प्रवर्तक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव देखकर धर्म की रूपरेखा पर विचार कर वैसे ही सिद्धात फैलाते हैं। एक दूसरे के खण्डन मण्डन वृत्ति से या पक्षपात से अशांति पैदा होकर धर्म की नींव तो नष्ट हो जाती है साथ ही जो धर्म शांति के लिए प्रचलित हुआ था वही अशांति अथवा अन्यायमार्ग (पंथ) का अवलम्बन कर अपने भद्दे अस्तित्व को छोड़ जाता है। सब पंथ

प्रवर्तकों को चाहिए कि अपनी असलीयतें विचार कर लोगों में उन धर्म प्रवर्तकों की तरह समयानुकूल मार्ग का प्रचार करें।

प्रिय पाठको ! मैं आपसे अधिक अनुरोध करता हूं कि आप अपने असली जैन धर्म को अपना कर जैन धर्म के योग्य इस युग में अपन आदर्श दर्शावें।

भाइयो ! यह जमाना हमे पुकार रहा है शांति की ओर आह्वान कर रहा है, जैन धर्म की स्याद्वाद मयी पीयूष सनित वाणी का प्यासा है। सबको वैज्ञानिक युग के साथ वैज्ञानिक-धर्म की चाह है। अगर इस समय भी एक रूप होकर कार्य नहीं किया तो फिर कब करेंगे ? कब इन पथो के पचोड़ो से दूर हो सच्चे जैनत्व को अपनायेंगे और कब तक जिनत्व के आदर्श द्वारा संसार को सच्चे धर्म का मार्ग दर्शावेंगे ?

भगवान् ! ऐसा समय शीघ्र आवें और हम सब प्रेम धारा के प्रवाह में प्रवाहित हो परमानन्द लूटें।

जैन प्रकाश

२१-३-३५, ७-४-३५, १४-४-३५
और २१-४-३५

# आज की शिक्षा में स्वाध्याय का महत्व

'स्वाध्याय' एक महत्त्वपूर्ण शब्द है, जिससे स्व की आत्मा का बोध होता है। बुद्धिवाद के युग में बोध का प्रचार करना जैसा कठिन है, उतना ही आज की शिक्षा में स्वाध्याय का प्रचार करना दुष्कर है।

यों स्वाध्याय प्रत्येक विद्यार्थी, लक्ष्यार्थी और आत्मार्थी करता है, लेकिन स्वाध्याय के रूप अलग-अलग हैं। अकेला छात्र जब किसी विषय का बैठकर अध्ययन करता है या पढ़ता है अथवा विचारता है, तो वह स्वाध्यायी कहलाता है। किसी लक्ष्य की ओर बढ़ने वाला कोई भी सज्जन अपनी तौर से उस लक्षित वस्तु का अध्ययन करता है, तो वह भी स्वाध्यायी कहलाता है। एकचित्त होकर वाचन, मनन और ध्यासन का जो कार्य आत्मार्थी करता है, वह भी स्वाध्यायी कहलाता है।

प्रस्तुत लेख का परिलक्षितार्थ शास्त्रीय, आगमीय और आध्यात्मिक अभ्यास करने का है। अध्याय और अध्यायी, लेख और लेखक, वाचना और वाचक, वेद और वेत्ता तथा पाठ और पाठी (पाठक) के भेद ज्ञान से इनके प्रयोगों का बोध हो सकता है।

एकचित्त होकर एक विषय का वर्णित विषय जिसमें पढ़ने का हो, वह अध्याय कहलाता है और उस अध्याय का अध्यायी, पढ़ने वाला पाठी होता है। 'स्व' शब्द लगने से स्वाध्याय और स्वाध्यायी बन जाता है। अपने अनुकूल वर्णित विषय का पठन स्वाध्याय कहलाता है। परिभाषा में अपने आत्मा सम्बन्धी उत्कर्षकारी अध्याय का वाचन, पढ़ना, मनन करना और ध्यासन करना 'स्वाध्याय' कहलाता है। स्वाध्याय, स्वयं में संज्ञा होकर स्वाध्याय करने रूप क्रिया में परिणत हो जाता है।

आज की शिक्षा, स्वयं स्वाध्यायी है। उसमें स्वाध्याय का ही महत्त्व है फिर भी "आज की शिक्षा में स्वाध्याय का महत्त्व" ऐसा शीर्षक पाठकों को भ्रमित कर सकता है। पर इसका समाधान इस लेख से तिर आयेगा। आज भौतिक युग की प्रधानता है। शब्द सदा भौतिक होते हैं। इनके जितने अर्थ किये जायें, हो सकते हैं। समय, क्षेत्र और रूपों की दृष्टि से एक शब्द अनेक रूपों में आता है। पारिभाषिक शब्द की एक ही परिभाषा कही जाती है, अतः स्वाध्याय का प्रस्तुत लेख में धार्मिक ग्रन्थों का पठन करने, वाचन करने और मनन करने रूप ही अर्थ अंकित किया जाकर, आगे कुछ निवेदन किया जाता है।

इस युग में धार्मिक शिक्षा का अर्थ सम्प्रदायवाद का प्रचार, ऐसा किया जाता है। धार्मिक ग्रन्थों का वाचन, थोथे ज्ञान, अंध श्रद्धा और संकीर्णता के रूप में ग्रहण किया जाता है। तर्क की प्रधानता है तथा वाग्जाल की प्रचुरता है। शिक्षा का अर्थ "साविद्याया मुक्तये" के सही शिक्षण को भूलकर "सा विद्या या भुंक्तये' में परिणत हो गया है और उसमें वासना, लालसा, स्वार्थ और अहंत्व का रूप समाविष्ठ हो चुका है।

आज की शिक्षा में यदि स्वाध्याय को प्रमुख स्थान दिया जाय, तो शिक्षार्थियों की उद्दण्डता, उच्छृंखलता, अनुशासनहीनता,

विलासिता, स्वार्थपरता और अभिमानवृत्ति का नाश होकर व्रत, निष्ठा, शासन प्रियता, संयम, परमार्थ और विनय की प्राप्ति होती है।

आज के युग में शिक्षार्थी की स्वाध्याय वृत्ति जाग्रत करने के लिए धार्मिक ज्ञान देना अत्यावश्यक है। धार्मिक ज्ञान, बिना धर्म शास्त्रों के प्राप्त हो नहीं सकता। दुनिया में व्यवस्था और शांति धार्मिकता पर निर्भर है। जब तक शिक्षार्थियों में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शील और निष्परिग्रह वृत्तियों का विकास न होगा, तब तक व्यवस्था पूर्वक जीवन निर्वाह नहीं कर सकते और न दुनिया को व्यवस्थित करने में सहयोग ही दे सकते हैं। बिना व्यवस्था के शान्ति आ ही नहीं सकती।

निष्क्रियता शान्ति नहीं, वह तो मरण है; लेकिन व्यवस्थित सक्रियता जीवन है। शान्ति वाहक आनन्दानुभव है, श्रेय मार्ग है। व्यवस्थित एवं सक्रिय बनने के लिये स्वाध्याय, सूत्र वाचन, शास्त्र श्रवण, आगम-मनन और आध्यात्मज्ञान सम्बन्धी प्रश्नोत्तर करना अत्यावश्यक है। स्वाध्याय से मन, वचन और शरीर स्थिर भाव में रमता है; अत: संवर की उत्पत्ति और कर्मों के बन्धन से मुक्ति मिलती है। उच्छृंखलता की वृत्ति को मिटाने के लिए स्वाध्याय परम आवश्यक है : आज का शिक्षण फैशनपरस्त अभिमान को जगाता है और निरंकुश बनकर जीवन बिताना उपयुक्त समझता है। आज का शिक्षार्थी अपव्यय तथा व्यर्थ के प्रदर्शन में अपने समय, मस्तिष्क और धन को नष्ट कर रहा है। उसकी अपटूडेट आंग्ल वेश भूषा, आर्य संस्कृति और संयम पर आघात पहुंचाती है।

आज की शिक्षा खर्चीली और विलासिता पूरक है। लड़कियों और लड़कों का रहन-सहन तथा वेष-भूषा आकर्षक लुब्धक और बनती

जा रही है। धर्म और संयम का अन्त होता जा रहा है। स्नातक और स्नातकोत्तर शिक्षाएं संयम को नष्ट कर प्रदर्शन और विलास को अपना रही है। अतः प्रारम्भिक जीवन में (शैशव और बाल काल से ही) नियमित जीवन बनाने के संस्कार डालने आवश्यक हो गये हैं। जब तक नियमित जीवन बनाने के उपाय काम में नहीं लायेंगे तब तक सारी कुशिक्षाएं और दुनिया में येन, केन, प्रकारेण पैसा सग्रह करना, धोखा देना, उल्लू बनाकर नीचा दिखाना और वाचिक तथा बौद्धिक प्रक्रिया से डाके डालना और विलासिता पूर्ण जीवन बिताने की क्रियाएं नष्ट नही होंगी।

बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वान्, विचारक इस तेजी से बढ़ती हुई अनैतिकता को रोकने में समर्थ नहीं हो पा रहे हैं। रिश्वत खोरी, चोर बाजारी और डकैती तो प्रत्यक्ष देखी जा सकती है; लेकिन ये अक्ल से पैदा की गई गुण्डागिरी, समझदारी से की गई लूट तथा दिमाग के बल से की गई धोखाधड़ी कभी पकड़ी नहीं जायेगी। आज अनैतिकता अत्यन्त तीव्र प्रवाह से बढ़ती जा रही है। दिमागी शक्ति से जनता को गुमराह करना एक शासक का गुण माना जाता है। गुण्डागिरी नेता बनने का अच्छा गुण है। चालबाजी एक अच्छा राजनैतिक और व्यवहारिक पेशा बन गया है। इसका अन्त होना इस युग के लिये बड़ा मुश्किल सा है।

मेरे पाठक बन्धुओ! यदि आप अगले युग के प्रवर्तक इन शिशुओं और बालक-बालकाओं में व्यवहारिक शिक्षा के साथ धार्मिक पठन, स्वाध्याय और मनन का अभ्यास भी चालू रखेंगे, तो भारत का भविष्य फिर भी 'राम राज्य' बनने के लिये चुना जा सकता है। यदि आप लोगों ने अपनी भावी पीढ़ी को भी इस विडम्बना पूर्ण शिक्षा दे कर ही दास बनाया, तो अव्यवस्था फैल जायगी। व्यवस्था और शांति दुनिया में बाहरी रूप से रह सकती है, लेकिन आध्यात्मिक विकास द्वारा प्राप्त

शांति और मुक्ति बिना स्वाध्याय, आत्मिक ज्ञान के शास्त्रों के अध्ययन और आत्मा के भीतर रमण करने, ध्यान करने, मनन करने के प्राप्त नहीं हो सकती है।

मेरी ३२ वर्ष की शिक्षण काल की अनुभूति से यही व्यंजना हो रही है कि आज के युग में स्वाध्याय का प्रचार, प्रसार और प्रभाव आधुनिक ग्रन्थों की शिक्षा से भी अधिक आवश्यक है।

जिनवाणी

अप्रैल, १९६४

# पर्यूषण की मूल भावना जैनत्व में एकत्व

दुनिया में हिन्दुत्व जितना बिखरा हुआ है, उतना ही जैनत्व प्रसरा हुआ है। जिस तरह हिन्दू समाज और हिन्दू धर्म की कई शाखाएं हैं, उसी तरह जैन समाज और जैन धर्म की कई सम्प्रदायें हैं। भारत भूमि में अनेक विचारक हुए, उन्होंने समय-समय पर अपने विचार जगत के सन्मुख रखे। उन विचारों को अपनाने वाला एक-एक समूह बनता गया और आगे जाकर यही वर्ग सम्प्रदाय बनता गया। ये सम्प्रदायें इतनी भौंटी हो गई हैं कि उनमें तीक्ष्णता लाने के लिए चमत्कार की आवश्यकता है। सिद्धान्त और उपदेश अब कोई एकीकरण नहीं कर सकते। जैनत्व क्या है ? इसे समझने के लिए सम्प्रदायों के दृष्टि बिन्दु भिन्न-भिन्न हैं। जब महावीर के शासन की यह हालत है, तो और सिद्धान्तों का कहना ही क्या ? हरेक सम्प्रदाय अपने-अपने आचार्यों से परिवेष्टित है और उनके बनाये हुए बाड़ों में बंधी हुई है तथा उनके बताये हुए मार्ग को ही सही मानती है। जब असलियत पाने के लिये कोई मार्गदर्शक कुछ करे, तो वह मिथ्यात्वी कहलाता है। इस तरह एक सम्प्रदाय दूसरी सम्प्रदाय को मिथ्यात्वी व मिथ्यात्व-पोषक मानती है। आपस में घृणा का व्यवहार होता है। अपनी-अपनी सम्प्रदायों के लिए लाखों और करोड़ों खर्च करने में धर्म समझा जाता है। सम्प्रदाय की रक्षा के लिये कभी-कभी आपसी लड़ाइयों में भी

धर्म की स्थापना की जाती है। सम्प्रदायों के आपस में मिलने में कई बड़ी गहरी खाइयां हैं, जिनको पाटने में विपुल परिश्रम और त्याग की जरूरत है।

हां, आजकल एक स्थान पर भाषण अवश्य होने लग गये हैं और जुलूस में कई सम्प्रदाय वाले इकट्ठे चलने लगे हैं। जमाने की हवा समझने की भूख जगी है, किन्तु यह भी प्रबुद्ध संतों, साध्वियों और श्रावकों तक ही सीमित है। साधारण जन-समुदाय बड़ों के पीछे गति करता है। पंडित और आचार्यों की पूंछ सम्प्रदाय के साथ लगी हुई है। अतः महावीर के २५००वें निर्वाणोत्सव मनाने में हम कितने सफल होंगे, यह भविष्य के श्रम पर निर्भर है।

महावीर सबके हैं; लेकिन महावीर को देखने की दृष्टि भिन्न-भिन्न है। अतएव कोई नव मन्दिर-निर्माण में, कोई स्तूप लगाने में, कोई ग्रन्थ प्रकाशन में, कोई संस्थाओं के उद्घाटन में, कोई विदेशों में प्रचार में और कोई समाज को एकता के सूत्र में बांधने में अपनी योजनाए बना रहे हैं। विभिन्न-विभिन्न दृष्टिकोण से विभिन्न-विभिन्न योजनाएं बन रही हैं और बनेंगी। इनको पूर्ण करने की सामग्री भी जुट गई है और जुटेगी। इन सभी योजनाओं को गति देने में करोड़ों रुपये समाज खर्च करेगा और निश्चित ही करोड़ों रुपये खर्च होंगे। वाहवाही हो जायगी। बड़े शानदार उत्सव मना लिये जायेंगे। जय-जयकार बोल दी जायगी। लाखों मानव सम्मिलित होकर वीर प्रभु के गुणानुवाद गायेंगे। आखिर वीर प्रभु के लिये तन, मन और धन लगावेंगे।

यह सब कुछ करने पर भी वीर-शासन के नाम पर एक होने का कार्य किसी से नहीं बन पड़ेगा। एक गच्छ, एक शासन, एक ही सम्प्रदाय हो और वह हो, वीर की ही। उनके शासन की ही। क्या उसके शासन में हम ही हैं? फिर हमें अलग अलग तान गाने से क्या मतलब है? हम सब एक आचार्य के अधीन क्यों न हो जायं? एक

ही ढंग के हमारे व्रत हों, नियम हों, आचार हों और प्रचार हों। फिर क्यों न जैनत्व निखरेगा।

क्या हम करोड़ों रुपयों के खर्च करने के साथ यह करने को तैयार हैं? क्या हम अपनी अपनी सम्प्रदाय का व्यामोह छोड़ कर, एक माला में गुंथने के लिए तैयार हैं? नहीं हैं, तो ये सारे ढकोसले व्यर्थ हैं। दुनिया पर कोई खास असर करने वाले नहीं होंगे। यह अवश्य होगा कि काला बाजार का पैसा समाज के बीच में फैल जायेगा। कुछ साहसिक सामग्री बन जायेगी, प्रचार हो जायगा और कुछ संस्थाएं पनप जायेंगी, जिनका बोझा सदा समाज पर बढ़ता रहेगा।

योजनाओं की धुन, इस युग की धुन है। इससे पीछे रहना जैनत्व को फीका करना है। बड़ी बड़ी योजनाएं बननी चाहिए। जमाने में कम से कम, जैनत्व बने, नहीं तो फैले तो सही। जैन नहीं बना पायें, तो जैनत्व के नारे लगायें तो सही। अन्य विद्वानों एवं नेताओं के बीच हम हमारी गायें और सुनायें तो सही। जितना भी बन सके करें, शुभ है; लेकिन चिर स्थायी नहीं।

दुनिया को जैनत्व की जरूरत है लेकिन दुनिया जैनत्व में एकत्व पहले देखेगी, तभी जैनत्व को अपनाने के लिए अग्रसर होगी। घर में फूट और हम दुनिया में फैलें, यह संभव नहीं। जैनत्व में एकत्व के दर्शन से ही जगत् में जैनत्व का दर्शन होगा। आज हमारी समाज रूढ़ व जड़ हो चुकी है।

हमारे मन्दिर हमारे स्थानक और प्रार्थना स्थल भी रूढ़ हो चुके हैं। हमारी तीर्थों की पेढ़ियां और सभा स्थल भी रूढ़ हो चुके हैं। सब पर पृथक्-पृथक् सम्प्रदायों के कब्जे हैं और उनमें किया हुआ धर्म और दिया हुआ दान ही सफल होता है, ऐसी हमारी मान्यताएं भी रूढ़ हो चुकी हैं। ऐसी रूढ़ियों को समानता पर लाना गुरुतर कार्य है। ये कार्य इस युग में इन परिस्थितियों में होना परम दुष्कर है; लेकिन

कुछ कार्य ऐसे हैं जो समाज के अग्र नेता और आचार्य तो कर सकते हैं और कुछ समानता के बीज पनप सकते हैं। वे आवश्यक भी हैं।

१. प्रथम सभी सम्प्रदायों के अग्र नेता इस बात का निर्णय लें कि हमें एक पर्युषण और एक संवत्सरी मनाने का दृढ़ संकल्प करना है। इस निर्णय के साथ सभी सम्प्रदायों के महान् आचार्यों एवं शास्ता गुरुओं से मिलकर उनको इस विषय के लिए तैयार करें। अग्र नेता एक डेपुटेशन बनावें; जिसमे दिगम्बर आम्नाय के बीसपंथी, तेरापंथी और तारणपंथी तथा श्वेताम्बरों के जितने भी गच्छ अभी चल रहे है वे अलग-अलग, इसी प्रकार स्थानकवासियों के श्रमण संघ के व उनसे अलग हुए वे अलग-अलग, तेरापंथी आम्नाय के श्रावक सम्मिलित हों। इनके अलावा सोनगढ़ की कानजी स्वामी की मान्यता एवं रायचन्दजी की मान्यता के श्रावक भी मिला लिये जायं। कम से कम २५ व्यक्तियों का यह प्रतिनिधि-मण्डल प्रयत्न कर सफलता प्राप्ति करें। इसके लिए यदि लाखों रुपये खर्च भी हों, तो काम के लिए हैं। एकत्व की प्रथम सीढ़ी चढ़ने के लिए ही है। यह एक काम होगा।

२. ऊपर का प्रतिनिधि-मण्डल इस बात को भी सभी से तय करे कि कोई सम्प्रदाय दूसरी सम्प्रदाय की निन्दा न करे और न उनके धर्म गुरु और आचार्य पर भाषणों अथवा प्रकाशनों में दूसरी सम्प्रदायों पर छींटें कसें। अनेकान्तमय जैन धर्म का अनेक विचार वाला मान कर उसमें समन्वय की पुट देवें।

३. पिछली पीढ़ी के लिए धार्मिक पठन-पाठन कार्य का एक बोर्ड सम्मिलित रूप से कायम किया जावे। उसमें समन्वयात्मक पाठ्यक्रम हो। वह सबके लिए हितकर हो और उसकी समिति भी सबकी मिल कर बने।

४. जब भी मन्दिर, स्थानक, उपाश्रय और सभास्थल पर किसी

का आक्रमण हो या राज्य द्वारा बाधा उपस्थित की जाय, तो सभी सम्प्रदाय वाले उसको दूर करने में अपनी पूरी शक्ति देवें। सारे जैन समाज की समिति बने। यह उसको गति देवे।

५. सभी सम्प्रदाय के साधु, साध्वियों एवं तीर्थों, मन्दिरों, स्थानकों एवं उपाश्रयों तथा प्रार्थना स्थलों को सभी आदर की दृष्टि से देखें और आदर भाव रखें। सभी साधु-साध्वियों को समान आदर दें। बाह्य वेष अथवा क्रिया काण्डों से घृणा न करें। बाह्य लिंग और आचार आत्मिक उन्नति का दिग्दर्शन नहीं कराते। कितनीक ऐसी सम्प्रदायें हैं, जो बाह्याचार को महत्व देकर अपनी प्रशंसा करती हैं और अन्य की बुराई, यह प्रवृत्ति बिल्कुल बन्द कर दें। इस कार्य में सभी सम्प्रदायों के अग्रनेता गति देने का प्रयास करें।

६. सारे जैन समाज और धर्म का एक निश्चित झंडा निर्धारित किया जावे। धर्म के त्यौहारों पर उसका उपयोग हो। झंडागान भी एक निश्चित धुन का तय कर लिया जावे। यह भी समिति ही तय करेगी।

७. समाज की सभी सम्प्रदायों की धार्मिक और व्यावहारिक शालाओं में सभी सम्प्रदायों के बच्चे-बच्चियों को प्रवेश दिया जाय। छात्रालयों में सभी जैनियों को प्रवेश दिया जावे। आपस में कोई जैन धर्मावलम्बी एक दूसरे से परहेज न करे। यहां तक कि छात्रवृत्तियों में भी समानता बरती जावे।

८. सभी धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं का वर्ष में एक बार निरीक्षण किया जावे और जहां कमी हो, प्रगति दी जावे। इसके लिए एक निष्पक्ष समिति का भी निर्माण हो। वही धार्मिक परिक्षाओं का संचालन भी करे। छात्रों को प्रोत्साहन देने के लिए पारितोषिक वितरण भी किया जावे।

९. जैनियों में जैन फिलासोफी के उद्भट विद्वान तैयार किये जावें, जो विदेशी और स्वदेशी भाषाओं के ज्ञाता हों। उनके द्वारा विदेशों में जैन धर्म का प्रचार-प्रसार हो, यह कार्य भी सभी सम्प्रदायों की सम्मिलित समिति ही करे।

१०. तीर्थों की मालियत व व्यवस्था सम्बन्धी सब झगड़े सम्मिलित समिति द्वारा ही निर्णित हों, कोर्ट में कोई मामला न जावे।

११. सारे जैन समाज धर्म के प्रतीक मन्दिर, उपाश्रय, स्थानक और धर्म स्थल इस समिति की देख-रेख मे रहे, ताकि कभी आपसी झगड़े खड़े न हो।

इसके अलावा कुछ बाते जैन समाज का दायरा विस्तृत बनाने की निम्न प्रकार है। वे व्यवहार में लाई जावे :—

१. किसी भी जाति के मानव या मानवी के जैनी बनने के बाद उसको जाति में खाने पीने और अन्य व्यवहार में सम्मिलित किया जावे।

२. किसी भी जाति या धर्म का मानव बिना रुकावट के अपने धर्म स्थलों पर धार्मिक क्रियाओं में सम्मिलित हो कर लाभ ले सके, इसके लिए रुकावट न हो। जैसे मन्दिर, उपाश्रय और स्थानक-प्रवेश खुला हो।

३. जैनियों में परस्पर विवाह सम्बन्ध चालू हों। जाति का भेद नहीं बरता जावे।

४. जैन भाई प्रमुख राजनीतियो मे पूर्ण भाग लें। इसमें सभी सम्प्रदायों का सहयोग अपेक्षित है।

५ हमारे समाज और धर्म के गरीब भाई-बहन पलें इसके लिए समाज के सभी सम्प्रदाय सम्मिलित रूप से प्रयास करें। बेरोजगार को रोजगार और असहाय को सहारा देना पुनीत कर्तव्य समझें।

६. जो विधवा पुनर्विवाह करना चाहे, उसे मान्यता दें और जो अन्तर्जातीय विवाह करे, उसे भी मान्यता दें। जो साधु-साध्वी वेष छोड़कर समाज में आ जाय उससे घृणा न कर उसे अपनाया जावे।

७. प्रत्येक बड़े शहरों और जहां तक हो सके सभी जगहों पर जैन बस्तियां बसाई जावें। उनके नाम जैनत्व को लिये हों, ताकि भावी पीढ़ियों में संस्कार बने रहें।

८. जैनियों की गिनती सही हो, उसके लिए प्रयास किया जावे।

९. जैनी परस्पर जहां भी मिलें, रहें, और राह में चलते भी भ्रातृभाव की वृद्धि करें।

१०. जैनी जो भी जुलूस निकालें। उसमें छात्र और छात्राओं को एक निर्धारित ड्रेस में निकालें और पुरुष-स्त्री वर्ग भी एक निर्धारित ड्रेस में निकले।

११. जैनियों का सही इतिहास बनाया जावे और आगे सही इतिहास रखने की व्यवस्था की जावे। यही भविष्य में जैनत्व की सुरक्षा का भण्डार है।

१२. स्वामी वात्सल्य, धर्मभोज आदि का दायरा मेलों के रूप में बढ़ाया जावे और उसमें सभी जैनी सम्मिलित होकर सहभोज तथा सह प्रदर्शन करें।

१३. क्षमावाणी दिन अथवा सभी विशेष धार्मिक त्यौहार, सभी

जैन साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाएं सम्मिलित रूप से मनाने की पूरी परिपाटी बनालें।

१४. जब भी जैन, जैन से मिलें परस्पर वंदन व्यवहार अवश्य करें।

१५. एक जैन अकादमी (संगम) की स्थापना की जावे।

जैन प्रकाश<br>
२३ अगस्त १९७१<br>
श्री अमर भारती
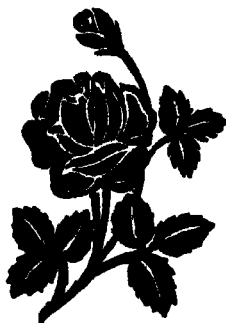
# सारे जैन समाज की संवत्सरी एक हो–
# एक नारा; एक कर्तव्य

मुझे कई समाज के शुभचिन्तकों ने सूचित किया कि आप सावंत्सरिक एकता पर अपने विचार दें। मैंने अखंड जैन समाज के निर्माण विषयक विचार दो तीन बार समाचारपत्रों द्वारा समाज के सामने रखे। उनमें से एक झण्डा, एक प्रतीक और एक ग्रन्थ प्राय. सारे जैन समाज ने मान्य किए है। इनका एक रूप देने में राष्ट्रीय संतों, विद्वानों एव गणीवर्ग का प्रमुख भाग रहा। वीर-सघ निर्माण के प्रारम्भिक कदम शुभ चेतना के सूचक हैं।

विश्रृङ्खल वीर-संघ के विभिन्न आचार्य चाहे सोचें या न सोचें, लेकिन वीर-सघ के निर्माण में अपने आपको समर्पण करने वाले प्राज्ञ-वर्णीजी, उपाध्यायजी, महावीर परिनिर्वाण समिति को मान देने वाले प्रवर्तक, आचार्य एवं प्रमुख श्रावक यदि विचार लें और एक ग्रन्थ निर्माण की तरह इसके लिए भी प्रयत्न करें तो सिद्धि के साथ प्रसिद्धि की उपलब्धि अवश्यम्भावी है।

महान् दार्शनिक एवं आध्यात्मिक अग्रनेता श्री वीर-प्रभु ने अपने अनुयायियों को एक सूत्र में शासित करने के लिए तीर्थ की स्थापना की। इससे संघ सूर्य का उदय हुआ। साधक एव साधिका गृही हों या विरक्त, उन्हें शासन में स्थिर रह कर साधना करने की देशना थी।

इस शासन सूत्र का सचालन सघ तीर्थ नाम से होता था। संस्थापक-सचालक स्वयं तीर्थंकर महावीर थे। उनके अधीनस्थ गणधर, गणी, आचार्य, स्थवीर, उपाध्याय, केवली, श्रुतधर एवं बहुश्रुत आदि कई पदवी धारक प्रवर्तक एव निरीक्षक रहते थे। किसी भी तीर्थ का प्रवर्तन बिना संगठन के असंभव है। सगठन का रूप ही सघ है। सघ ही शक्ति, सूर्य, देव, नाव, कुल एव सरक्षक आदि कई विशेषणो से घोषित किया जाता है। सघ मुक्तिदायक, कल्याणकारी, वर्द्धमान एव विकासमान होता है; इसीलिए सघ वदनीय है। सघ के सामने सभी का समर्पण आदरणीय होता है।

वीर-सघ ढाई हजार वर्षो मे जीर्ण-शीर्ण होता आया। आज ढाई हजार वर्ष के भस्मग्रह के दूरीकरण हेतु वीर-परिनिर्वाण महोत्सव मनाया जा रहा है। इसी वर्षभर में यदि हम अपने निजी रूप और सघ स्वरूप को पहिचान ले और कुछ कर गुजरे तो पच्चीस-शताब्दी-वर्ष स्मरणीय बन जायगा। प्रद्योतकारी साबित होगा। इसी दृष्टि को ध्यान में रख कर मैं कुछ निवेदन करू, तो सम्यक् दृष्टि से ग्राह्याश अवश्य ग्रहण करें।

इस परिनिर्वाण महोत्सव मे सबसे अधिक उत्साह दिगम्बर जैन समाज का दृष्टिगत हो रहा है। सदा दिगम्बर को सबसे अधिक उत्सर्ग करना पड़ता है। दिगम्बर बनने वाला स्वय समर्पण का प्रतीक है। क्या ही अच्छा हो, सावंत्सरिक एकता मे भी पूज्य विद्यानन्दजी और वर्णीजी पुन: अग्रभाग भज कर कार्यसिद्धी की ऋद्धि प्राप्त कर प्रसिद्धि मे चार चाँद लगावें।

संवत्सर वर्ष और उसका सबसे उत्तम मान्य पर्व दिन 'संवत्सरी' कहा जाता है। जैनियों में सवत्सरी पर्व प्रधानतया दो तिथियों मे मनाया जाता है। भाद्र शुक्ला पंचमी और चतुर्दशी। एक श्वेताम्बर आम्नाय का दूसरा दिगम्बर मान्यता का संवत्सरी दिन है। आध्यात्मिक

पर्व दिन आत्मिक विकास के लिए निर्धारित किया जाता है। उस दिन साल भर के किये त्यागों का प्रत्यालोचन और वापस व्रतारूढ़ होकर सभी जीवों से क्षमायाचना की जाती है। यदि यह दिन सारे जैन समाज का एक हो जाय तो अत्युत्कर्ष एवं संघैक्य का प्रबल रूप बन जायगा।

मैं समझता हूं, प्रबुद्ध आचार्यों और अग्र साधुओं को किसी दिन विशेष का रूढ़ ममत्व नहीं रखना चाहिए। समाज के भले और संघैक्य के निमित्त कोई भी एक दिन यह धर्म पर्व मना लेना उत्तम सिद्ध होगा। आत्मिक साधना में पूर्वाचार्यों की मान्यता या सूत्रों की विचार भिन्नता कहीं रुकावट पैदा नहीं करती। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों के आधार पर केवली धर्म साधना में परिवर्तन करना अनेकांतिक मार्ग की उचितता ही है।

सावंत्सरिक एकता के तीन विकल्प हो सकते हैं :—

१. **ऋषि-पंचमी-दिवस**—नाम से उत्तम एवं वेदान्त प्रक्रिया से भी ग्राह्य दिन है। यह दिन भाद्रपद शुक्ला ५ का होता है। जन-साधारण के प्रचलित सर्व मान्य टीप से जो दिन आवे, वही दिन मान्य गिना जावे। श्वेताम्बर, मूर्तिपूजक एवं साधुमार्गी स्थानकवासी जनों के अधिकांश अनुयायियों का मान्य दिन एवं दिगम्बर समाज का दस लाक्षणिक पर्व का प्रारम्भिक दिवस है; जो प्राय:-कर मान्य बन सकता है। दिगम्बर इसी दिन को संवत्सरी का दिन भी मान लें; तो सर्वोत्तम मार्ग निकल आयगा।

कई विद्वानों ने पुरानी मान्यता से सात-सात दिन सात-सात रसों की वर्षा के बाद जो युग परिवर्तन का दिन आता है वह ५०वां दिन संवत्सरी का मान्य गिना है। लेकिन दो श्रावण वाले वर्ष में वह नहीं बैठ पाता। जो प्रथम भाद्रपद का आग्रह करते हैं, उनके लिए भी अनुकूल नहीं बैठता। जब दो भाद्रपद आते हैं तो द्वितीय भाद्रपद की

मान्यता के साथ यह साम्य बन जाता है। अर्थात् प्रथम भाद्रपद वालों की मान्यता दो श्रावण आने पर अनुकूल नहीं और द्वितीय भाद्रपद की मान्यता वाले को भी यह ठीक नहीं बैठता।

जन साधारण की मान्यता है कि दो भाद्रपद या दो मास कोई भी आवें तो बीच में दो पक्ष नपुंसक माने जाते हैं। उनकी अवमानना कर कोई भी पर्व उन दिनों मानना उत्तम नहीं माना है। अतः मेरी अर्ज है कि ऐसे मत भिन्नों को छोड़कर दो श्रावण हों, तो भाद्रपद शुक्ला पंचमी या दो भाद्रपद हों, तो द्वितीय भाद्रपद पंचमी को संवत्सरी मान्य कर लेनी चाहिए। मेरे खयाल से अत्यधिक संत एवं श्रावक समुदाय ने अपने आग्रह को छोड़कर इसे गतवर्ष मान्य किया था। दिगम्बर समाज ने संवत्सरी इस दिन नहीं मनायी सिर्फ पर्व दिन ही मनाया।

जहाँ संघ की एकता का सवाल है और संघ को सूर्य के प्रकाश में प्रकाशित होना है वहा अपने आग्रह को छोड़ देना चाहिए। इस तरह दिगम्बर समाज अपने दस लाक्षणिक पर्व का प्रारम्भिक दिवस और श्वेताम्बर समाज अपना संवत्सरी दिवस **'संवत्सरी दिवस'** रूप में एकता से मनावें। उसी दिन साल भर का प्रतिक्रमण करें, तप करें और जीवों से क्षमापन भी करलें। इस तरह कुल समय मिल कर १७ दिन का सभी पर्वाराधन काल घोषित करदें। मध्य दिन संवत्सरी का मान लें।

२. यदि श्वेताम्बर एवं स्थानकवासी समाज त्याग की उत्कृष्ट भावना रखें और वीर-संघ सर्जना में अपने आग्रह का विसर्जन करदें और दिगम्बर समाज का चतुर्दशी (भाद्रपद) का दिवस संवत्सरी रूप से मान्य करलें तो सर्वश्रेष्ठ है। यों इसी दिन श्वेताम्बर समाज भी चौरासी लाख की संवत्सरी बोलकर तप एवं धर्म आराधना करते ही हैं।

३. दोनों की रूढ़ मान्यताओं को एक तरफ रख कर कोई तीसरा दिन तय कर लिया जावे। जैसे भाद्रपद शुक्ला १५ या भाद्रपद शुक्ला १ अथवा भाद्रपद शुक्ला ६। भाद्रपद शुक्ला १ से ६ तक का ६ दिन का पर्व मनाया जावे। दस लाक्षणिक पर्व और अष्टाह्निका महोत्सव वाले दोनों अपने आग्रहों को वीर परिनिर्वाण वर्ष की याद में वीर-संघ की शरण ग्रहण हेतु त्याग दें और इस पुण्य अवसर पर 'नवाह्निका महोत्सव' तय कर दिया जावे। दस धर्मों में शौच और अकिंचन की वाचना एक दिन करदी जावे। जो सूत्र ८ दिन में पूरा किया जाता है उसे नो दिन में पूरा किया जावे। अथवा बीच के बड़े कल्प भाद्रपद शुक्ला १ के दिन वीर जीवन की जन्म दिवस की वाचना दी जावे। प्रथम दिन वीर जन्म दिन मनाया जावे।

नो पदजी की पूजा नो दिन की जावे। नो ग्रहों की शांति नो दिन की जावे अहिंसा सत्य, अचौर्य, शील, अपरिग्रह, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप के नो दिन मनाये जावें अथवा अन्य तरह का नो दिन का पर्व मनाने का विकल्प कायम किया जावे।

उपसंहार—आत्म साधना के पर्व दिन का झगड़ा वीरानुयायी कभी नहीं करते। जिस दिन वीर-संघ पर्व मनाना तय करे, धर्म पर्व बड़े उत्साह से उसी दिन मनाने में अपना कर्तव्य समझें। एक दिन इस पर्व को आत्मिक साधना के लिए नियुक्त किया जा सकता है। आध्यात्मिक पुरुष जिस दिन पर्वाराधना करे वही दिन 'संवत्सरी' बन जाता है। अनन्त संवत्सरी पर्व मनाने पर भी आत्मिक ज्योति जागृत नहीं होती। यह दिन सामूहिक आत्मिक चेतना का निर्धारित किया हुआ है, उसे पुनः निर्धारित करना संघ हित के लिए मान्य है।

वीर के अनेकान्त सिद्धांत की यही विशेषता है कि उसका अनु-यायी कदाग्रह नहीं करता। कदाग्रह की दृष्टियां भिन्न हो सकती हैं, लेकिन कभी-कभी आग्रह एवं अत्याग्रह, कदाग्रह का रूप धारण कर लेता है और इससे ईर्षा, द्वेष और मत भिन्नता बढ़ जाती है। मत भिन्नता मिटाने के लिए पूर्वाग्रह त्याग कर सम्यक् समीकरणपूर्वक समन्वय मार्ग ग्राह्य माना गया है।

यदि मेरे पूज्याचार्यों और प्रबुद्ध पण्डितों को वीर संघ का अनु-शासन प्रिय है, तो वह मेरे इस दुःख भरे एवं सन्मार्ग में प्रेरित करने वाले निवेदन को उत्तम पुरुषों की तरह सत्यांश ग्रहण कर वीर निर्वाण वर्ष को सिद्धिदायक अवश्य बनावें।

—जैन प्रकाश : २२ अप्रेल, १९७५
—सुधर्मा : मई, १९७५

# समन्वय दर्शन में धार्मिक मतभेद क्यों ?

## वीर का अनेकांत सिद्धांत और समन्वय दर्शन

महावीर ने अनेकान्तवाद का प्रचार नही किया और न अनेकांतवाद का उपदेश ही दिया। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि वीर को, सन्मति वीर को और महावीर को अनेकान्तवाद के साथ जोड़ दिया गया है। महावीर ने वादों का अन्त करने के लिए अनेकांत सिद्धांत का उपदेश दिया और इसी का प्रचार-प्रसार किया। बड़े-बड़े विद्वान् यह भूल जाते है कि वादों का अन्त करने के लिये पुनः वाद का प्रतिष्ठान कैसे किया जा सकता है? धर्म-दर्शन के ज्ञाता आज तक अनेकान्तवाद शब्द का व्यवहार करते आ रहे हैं। मैं स्पष्ट बता देना चाहता हूं कि वीर का ज्ञान सपूर्ण था और संपूर्ण ज्ञान के द्वारा प्रकट वाणी सिद्धांत की ही निकलती है। जिसका अन्त सदा सिद्ध हो—सफल हो, जिसमें पुनः तर्क या वितर्क का स्थान न हो, वही सिद्धांत है। महावीर ने जो कुछ सिद्धांत कहा है। नया वाद कोई खड़ा नहीं किया।

## यह अनेकान्त सिद्धांत क्या है? और क्यों प्रकाश में आया?

जब एकान्तवाद ने भारत के कोने-कोने में वितण्डावाद, शास्त्रार्थ और वाद-विवाद के साथ परस्पर के संघर्ष पैदा किये। हर

एक धर्म (पंथ) प्रवर्तक या आचार्य ने अपनी-अपनी मान्यता को सही साबित करने के लिए अपने-अपने पक्ष की पुष्टि में, अनेक तरह की कुतर्कों द्वारा साधारण जनता में धर्म के नाम पर ऐन्द्रजालिक क्रियाएं और ऐसे ही दूसरे करतबों से आकर्षण पैदा किये अथवा वाक्-युद्ध किये। अनेकों ऋषि-आश्रम थे, अनेकों विहार थे, अनेकों मठ थे और अनेकों ऋषि कुल और गुरुकुल थे। उनके आचार्य या मठाधीश अपने आप में पूर्ण ईश्वर के रूप थे। उनके वाक्य ईश्वर-ब्रह्म वाक्य थे। जनता में जो अपनी विशेष छाप डाल देता, जनता उस तरफ झुक जाती। जन मानस ऊहापोह का शिकार था। शंकित और उद्विग्न था। तब जनता को इस झगड़े से बचाकर सही रास्ते पर लाने के लिए महावीर ने 'यह ही सत्य है' को,'यह भी सत्य है'। 'वह मिथ्या है' को 'वह भी मिथ्या हो सकता है' की प्ररूपणा की। किसी अपेक्षा से यह है, लेकिन अन्य की अपेक्षा से यह नहीं है। एक ही पदार्थ में 'है' और 'नहीं है' दोनों का अस्तित्व है, अतः 'यह है', 'यह नहीं है' युगपद है। दोनों को एक साथ बोल नहीं सकते अतः अवक्तव्य है। और 'है' और अवक्तव्य भी 'है' 'नहीं है और अवक्तव्य भी है' तथा 'है और नहीं के साथ भी अवक्तव्यगना वर्तमान है।' अतः एक पदार्थ में सातों विवक्षाएं वर्तमान हैं।

नयवाद की दृष्टि से संग्रह, व्यवहार, निश्चय, ऋजु सूत्र, शब्द, समभिरूढ़ एवं भूतनय आदि से एक ही पदार्थ की भिन्न-भिन्न विवक्षाएं हैं।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि की दृष्टि से भी भिन्न विवक्षाएं एक ही पदार्थ में वर्तमान हैं। इस तरह अनेक और असख्य तथा अनन्त विवक्षाएं एक ही पदार्थ में वर्तमान रहती हैं। अनेकान्त अनन्त है। एक पदार्थ को जानने के अनेक तरीके होते हैं और वे सब मिलकर अनेकांत सूर्य रूप पूर्ण ज्ञान के लिए होते है, अतः मैं कहता

हूं कि अनेकांत में संपूर्ण ज्ञान और सत्यज्ञान होता है, इसी से समन्वय दर्शन भी मिलता है। इन तरीकों से वादों का समन्वय किया जा सकता है। समन्वयार्थ महावीर ने एकान्त की जगह अनेकान्त का मार्ग प्रशस्त किया है।

अनेकांत वह सिद्धांत है. जो सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन का मार्ग प्रशस्त करता है। मिथ्यात्व का नाश करता है। एकान्त के दुराग्रह और कदाग्रह से बचाता है। हठाग्रह से सत्याग्रह की तरफ मोड़ता है। यह स्याद्वाद का दूसरा और पूर्ण रूप है। अपेक्षावाद का पिता है और सभी वादों का अन्त करने वाला सिद्धांत है। अनेकांत सिद्धांत में अनेक वाद प्रश्रय पा सकते हैं। अनेक वादों का सम्मिलन हो सकता है और अनेक वादो की व्यवस्था हो सकती है, लेकिन स्वयं वाद नही है। अनेकांत अनेक वादों का अस्त करने वाला समन्वय दर्शन का दाता है। अनेकात सूर्य है। जो वादों के मिथ्या अहंकार रूपी अंधकार को नष्ट कर समन्वय दर्शन का प्रकाश करता है। अनेकांत सारे विश्व मानव समुदायों और विश्व धर्म मार्गों का एक सर्वमान्य सिद्धांत हो सकता है, यदि इसे विश्व के सम्मुख ठीक ढंग से रखा जाय। यों आइंस्टीन ने इसके एक अंग सापेक्षवाद को पूर्ण सत्य माना है। सापेक्षवाद भी सभी समस्याओ का हल है और हल करने के लिए समन्वय दर्शन को अपनाना आवश्यक है।

नयवाद, स्याद्वाद और सापेक्षवाद आदि अनेकांत सूर्य की भासमान विशिष्ट किरणें हैं, जिनसे सारा विश्व भिन्न-भिन्न भागों से प्रकाशित होकर जीवनमय बन जाता है। सभी झगड़ों और वादों का अत ही अनेकान्त है। इसे मान्य करने वाला समन्वय दर्शन अवश्य होगा। समन्वय बिना अनेकांत व्यवहार में नहीं आ सकता, अतः अनेकान्त का व्यवहार पक्ष समन्वय है।

समन्वय का अर्थ सम्यक् प्रकार से अन्वय करना है। अन्वय

का अर्थ है—व्यवस्थित करना। हम छोटे बच्चे थे; तब हिन्दी व संस्कृत पदों का अन्वय सहित अर्थ लिखते थे। पदों में शब्द आगे पीछे भी होते हैं, उन्हें व्यवस्थित रखना अर्थात् कर्ता, कर्म, क्रिया आदि को व्यवस्थित करना ही अन्वय है। इसी तरह संसार के सभी वादों को, निश्चय को, निश्चय, व्यवहार आदि नयों की अपेक्षा व्यवस्थित करना ही अन्वय है और जो जिस स्थान और समय के लिए उपयुक्त हैं उन्हें उसी रूप में मानकर स्थान देना समन्वय है और इसकी पद्धति को समन्वय दर्शन कहते हैं। अनेकांत सिद्धात और समन्वय दर्शन को बताने पर अब मैं प्रस्तुत विषय पर आता हूं। चूंकि अनेकांत और समन्वय को समझे बिना धार्मिक मतभेद क्यों ? पर प्रकाश डालना व्यर्थ है।

## धार्मिक मतभेद और कारण

विश्व के अनेक भूखण्ड हैं। उनमें भिन्न-भिन्न भाषाएं बोलीं जाती हैं और भिन्न-भिन्न ढंग का जलवायु है। इसी कारण वहां के लोगों का खान-पान तथा रहन-सहन भी भिन्न है। वहां की शांति और व्यवस्था भी भिन्न-भिन्न हैं। शांति और व्यवस्था के नियम भी भिन्न हैं। शांति और व्यवस्था के निमित्त ही धर्म की उत्पत्ति हुई है। अतः धर्म भी उसी के अनुकूल बनेगा। शांति और व्यवस्था के साथ शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति के लिये, जो नियम बनते हैं, वे ही धर्म कहलाते हैं या यों कहदें कि आत्मिक गुणों की प्राप्ति या उन्नति और कल्याण की सिद्धि अथवा 'धारणाद् धर्ममित्याहुः धर्मेण विधृतः प्रजाः'। सबका एक ही तात्पर्य है। लेकिन भिन्न-भिन्न भूखण्डों में धर्म के व्यवहार में भिन्नता आना स्वाभाविक है, अतः धार्मिक मतभेद सदा बने रहेंगे। विविध धर्म-पंथ (धर्म के मार्ग) भी भूतकाल से भिन्न रहे हैं और रहेंगे। वर्तमान में भी "भिन्न मतिर्हि लोकः या मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्नाः" के अनुसार जो जिसको जंचेगा धर्म का अनुसरण करेगा। किसी को

दबाव देकर मार्ग परिवर्तन कराना अधर्म है। समझाकर मति को बदल देना धर्म है।

अब यह देखना है कि भिन्न-भिन्न खंडों में आविर्भूत धर्म मार्ग दूसरे भू-खंडों में दबावपूर्वक क्यों प्रचलित किया जाता है? इसमें उन प्रवर्तकों का अहं ही मुख्य है। यही वादों की जड़ है। इसके अलावा एक ही भूखण्ड में भिन्न-भिन्न मति वाले विशेष बुद्धि वाले प्रतिभासम्पन्न मानव भिन्न-भिन्न काल में सामान्य जनता में अपनी मान्यता को मनाने के लिए अपना मार्ग प्रशस्त कर जाते हैं और उसके लिए उन मान्यताओं पर ईश्वरोक्त या ईश्वरत्व प्राप्ति से उत्पन्न होने की छाप लगा देते है। उनके अनुयायी और प्रवर्तक वर्गों को उनके प्रचार से "धर्म लाभ होगा, मानवों का कल्याण होगा"—यह भी अच्छी तरह जंचा देते हैं। इस तरह विशेष समय मे उत्पन्न हुए अवतारो, महापुरुषो और तीर्थंकरों की वाणियो को रूढ़ रूप मानकर धर्म समझ कर प्रचलित करदी गई हैं। वे सभी प्रवचन इस समय के भिन्न-भिन्न मत या संप्रदायें है। ये जैन और अजैन सभी मे वर्तमान हैं।

## १. अहंता की पूजा

प्रस्तुत लेख में जैनियों में एक ही महावीर के समन्वय दर्शन के मानने पर मतभेद क्यो? इसका उल्लेख करना है। इसमे भी वही बात आती है। अन्य मतों में महापुरुष या अवतार रूप से अपनी वाड़ाबन्दिया बनाते हैं या उनके नाम से बना दी जाती हैं। जैनों में प्रबुद्ध धर्माचार्यों और प्रवर्तकों द्वारा बना दी गई या उनके अनुयायियों ने उनको प्रमुखता देकर उनकी मान्यताओं को मान कर मतभेद बढ़ा दिये हैं। अलग-अलग संप्रदायें कायम करदी हैं। सभी तत्वज्ञ यह जानते थे कि महावीर की वाणी अनेकांतमयी है, फिर भी अहंता की पूजा प्यारी होने से उन्होंने तथा उनके अनुयायियों ने भी

उनको महत्त्व देकर विषमताएं पैदा करदी हैं। वे मान्यताएं अब रूढ़ बन गई हैं। अतः संप्रदायों का पूर्ण रूप उभर आया है।

## २. समर्थ व्यक्ति का अभाव

समय-समय पर महावीर एवं महावीर जैसे समन्वय दर्शक समर्थ व्यक्तित्व का अभाव भी मतभेद बढ़ने का कारण है। तत्वदर्शी सर्वज्ञ या सर्वदर्शी सर्वज्ञ के रहते हुए सचेलक और अचेलक साधु एक साथ मान्य किये जाते रहे हैं यहां तक कि पार्श्वस्थ संघ के बहुरंगी वस्त्र पहनने वाले भी शासन मे वर्तमान थे। चातुर्यामिक धर्म और पंचमहाव्रती एक साथ समान भाव से आदर पाते थे। अनेक मतभेदों का समन्वय महावीर के समय किया जाता था। उनका वर्चस्व सभी को मान्य था। वीर शासन में उनके मोक्षगमन के बाद कुछ समय तक गौतम स्वामी, जम्बू स्वामी आदि का समर्थ व्यक्तित्व का सद्भाव रहा, लेकिन कालान्तर में शासन चालक समर्थ तत्वज्ञों के अभाव में विशुद्ध ज्ञान का प्रसार रुकता गया और विशेष बुद्धि वाले तार्किक शास्त्रज्ञों ने अपनी-अपनी मान्यताएं उनके अनुयायियों में मान्य करा रूढ़ बना दीं। इस तरह पृथक्-पृथक् शासन चलने लगे। उन शासनों की व्यवस्थाएं पृथक् होने से कभी मिलकर वीर शासन के सिद्धांतों को समन्वय दृष्टि से सोचने का अवसर नहीं दिया। इसलिए भी धार्मिक मतभेद बने रहे और बढ़ते रहे।

## ३. साधारण जनता का अज्ञान और सिद्धांत ज्ञान के प्रति अरुचि

तीसरा कारण यह भी है कि साधारण जनता सूत्र सिद्धांत से अनभिज्ञ रहती गई। साधारण जनता अधिक ज्ञानवान नहीं होने के कारण उस समय के प्रवर्तक संतों या आचार्यों के प्रवचनों तथा मान्यताओं को तथ्य रूप में स्वीकार करती गई। जब तक श्रावक-

श्राविका तथा साधु-साध्वियों में अनेकांत सिद्धांत की समझने की बुद्धि रही, तब तक समन्वय की कद्र की जाती रही। साधारण जनता की अनेकात सिद्धांत के प्रति अरुचि तथा अज्ञान; धार्मिक मतभेदों के बढ़ाने के प्रबल कारण हैं। समय-समय के जैन शासन के अनुयायी यदि यह समझ पाते कि विभिन्न मान्यताएं मानते हुए भी हम एक शासन में रह सकते हैं, सबका समीकरण या समन्वय कर हम वीर शासन को एक सूत्र में चला सकते हैं, तो धार्मिक मतभेद बढ़ नहीं पाते और इनके कारण पृथक् सम्प्रदायें बन नहीं पातीं। पृथक् सम्प्रदायें बनने के बाद साधारण जनता में तत्वज्ञान आने पर ही समन्वय की आशा की जा सकती है।

## ४. प्रचार और यातायात की असुविधा

यदि समय-समय पर कोई विशेष तत्वज्ञ एवं शास्त्रज्ञ अनेकांत एवं समन्वयदर्शी थे भी तो उनके पास दूर-दूर भारत के कोने-कोने में फैले हुए जैन समुदायों में उनकी मान्यताओ को पहुँचाने के लिए उपयुक्त प्रचार साधनों का अभाव था तथा यातायात के मार्ग भी सुगम नहीं थे। चोर, डाकू, लुटेरों तथा वन्य पशुओं के भय के अलावा मार्ग बीहड़ थे तथा सड़कें आदि बनी हुई नहीं थी। अनेकांत सिद्धांत को भिन्न-भिन्न प्रचार करने वाले साधुओं का अनेकांत सिद्धांत का ठीक तरह से उपयोग नहीं होने में प्रचार एवं यातायात सुविधा का अभाव प्रधान कारण है। इसलिए मतभेद बढ़ते गये।

## ५. आगमिक ज्ञान की सुरक्षा का अभाव

चली आ रही परम्परा में आगम कंठाग्रह ही रखे जाते रहे थे। सभी आगम सभी संत-सतियां याद नहीं रख सकती थीं और विशेषज्ञों का लाभ प्रचारक-साधु समुदाय को नहीं मिल सका। अतः धीरे-धीरे कंठस्थ ज्ञान भी विस्मृत होता गया। लम्बे समय के बाद, लम्बे समय

तक आगमिक ज्ञान के लिपिबद्ध नहीं होने से बहुत ज्ञान लुप्त हो गया। जितना याद रहा लिखा गया। भिन्न-भिन्न विशेषज्ञों की स्मृतियों के आधार पर लिपिबद्ध किये आगमों में भी कमियां रह गईं, कमियों के कारण तर्क की कसौटी पर कसने और समझने के भिन्न-भिन्न ढंग चलते रहे। इस तरह धार्मिक मतभेद पनपते रहे। ५वीं सदी में देवर्द्धिगणी क्षमा-श्रमण ने सम्मेलन बुला कर आगम लिपिबद्ध किये।

## ६. समय-समय पर लम्बे-लम्बे अकाल पड़ना

वीर निर्वाण के कुछ समय बाद भारत में लम्बे-लम्बे समय तक अकाल पड़ते रहे। बारह-बारह वर्ष के अकाल ने शासन-सूत्र की संचालन व्यवस्था भंग कर दी। निर्ग्रन्थ धर्म की शुद्ध आराधना में कई साधु पीछे रह गये। कई शिथिलाचारी बन गये। कईयों ने संयम छोड़ कर यति धर्म की स्थापना की और भट्टारक मार्ग चलाया। वीर शासन के समय की परिचर्या नष्ट हो गई। तत्व ज्ञान विशेष जानकार साधुओं के पास रह गया और वे एक दूसरे से दूर हो गये। आपसी मिलन हो नहीं पाया। जिसको जहां जैसा जंचा, मार्ग का अवलम्बन किया और वैसा ही प्रचार किया।

कई साधु वैताढ्य गिरि (विंध्याचल) के दक्षिण में चले गये। वास्तविक स्थिति का बोध अभी तक इतिहास वेत्ता को भी नहीं हुआ। दिगम्बर और श्वेतांबर दो बड़ी सम्प्रदायें बन गईं दोनों अपने आपको वीर शासन की धरोहर बताती हैं। लम्बे अकालों मे मतभेद बढ़ गये और मान्यताएं रूढ़ होकर कई छोटी-छोटी सम्प्रदायें भी बन गईं।

## ७. लम्बे समय तक आचार्यों के परस्पर मिलन का अभाव

वीर प्रभु के निर्वाण के बाद सुधर्मास्वामी और जम्बू स्वामी का शासन तथा उसके बाद कुछ सदियों तक शासन व्यवस्थित रहा। अनेकांत सिद्धांत से समन्वय दर्शन होता रहा। बाद में ५वीं शताब्दी

के पूर्व तक संघ चालकों का कभी सम्मेलन नहीं हुआ। आगमिक विस्मृत वाणियों का परिवर्धन, परिवर्तन और परिशोधन कार्य का अवसर नहीं मिला। जब सब चालक आपस में मिले ही नहीं तो मतभेद बना रहना स्वाभाविक ही था। सिद्धान्तो के विवेचन में जो अन्तर पड़ा, उसे परस्पर के मिलन और वार्तालाप से दूर किया जा सकता था। श्री देवर्धिगणी क्षमाश्रमण द्वारा बुलाया गया सम्मेलन भी उत्तरी भारत के साधुओं का ही था। दक्षिण भारत में प्रचार करने वाले संघ-चालक इसमें सम्मिलित नही हुए, अत. मतभेत बने रहे। श्री देवर्द्विगणी क्षमाश्रमण के बाद भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय में बीसवीं सदी के पूर्व तक तत्वज्ञों का कोई सम्मेलन नहीं होना मतभेद बने रहने का कारण है। आज के वैज्ञानिक युग मे सभी सम्प्रदायों का वीर शासन की एक सूत्रता और आगमवाणी निष्कर्ष पर एक सम्मेलन बुलाना आवश्यक है।

## समन्वय का वर्तमान समय सबके अनुकूल

आज यातायात की सुविधाए है। साधु व आचार्य सड़कों पर आराम से सारे देश के किसी भी भू भाग पर आ-जा सकते हैं। आज का युग सगठन में शक्ति को पहचानने लगा है और आचार्य लोग भी रूढ़ मान्यताओं में समन्वय की आवश्यकता को महसूस करने लगे हैं। यद्यपि सिद्धांत स्वयं सिद्ध होते है, लेकिन रूढ़ मान्यताओं ने सिद्धांत को समझने के तरीकों में अन्तर डाल दिये हैं। सम्प्रदायवादियों ने सिद्धांत को भिन्न अर्थ मे परिणत कर दिया था, अतः अब सभी सम्प्रदाय के अग्र श्रावक एव श्रमण गण अपनी मान्यताओं को वीर प्रभु के चरणों में समर्पित कर समन्वय दिशा में बढ़ें, तो सभी वर्तमान आचार्य वीर के अनेकांत सिद्धांत से अपनी-अपनी मान्यताओं को व्यवस्थित स्थान पर सुयोजित कर एक शासन व्यवस्था कर संगठित प्रचार कर सकते हैं।

समन्वय के लिए सम्यग्दर्शन और ज्ञान की पूर्ण आवश्यकता

है। महावीर तो इस समय नहीं आ सकते और न वे आकर सिद्धांतों का सही हल प्रस्तुत कर सकते हैं। उनका समन्वय दर्शन ही सम्यक् बुद्धि दान कर सकता है और उसी के द्वारा वीर शासन व्यवस्थित बन सकता है।

परिभाषा समझाने और क्रियाकांडों को लेकर मतभेद अत्यधिक हैं। सैद्धांतिक मतभेद नहीं हैं। सिद्धांत तो बदल नहीं सकते और न कभी बदले जा सकते हैं, अतः सैद्धांतिक मतभेद कहा जाता है—वह व्यवहार दृष्टि से कहा जाता है। भिन्न मान्यताओं को ही सैद्धांतिक भिन्नता कहते हैं।

## धार्मिक मतभेद क्यों ?

विदग्ध चक्षु वाले शास्त्र मर्मज्ञ, विद्वद्वर, साधु और श्रावक समन्वय कार्य भली-भांति कर सकते हैं। जहां पूर्व और पश्चिम जैसी दरारें पड़ गई हैं वहां उन्हें समन्वय करने के लिए भी प्रबल त्याग और समत्व बुद्धि का प्रयोग करना परमावश्यक होगा।

समन्वय दर्शन में भी मतभेद होते है और होने बुरे नहीं हैं, लेकिन वे मतभेद समन्वय से व्यवस्थित हों, शृखंलित हों, शासित हों और एक सिद्धांत की ओर लक्ष्य करने वाले हों, यह परमावश्यक है।

यदि सभी आचार्यों, धर्मोपदेशकों, शास्त्रज्ञ पंडितों और सुज्ञ श्रावकों को अपना एक और अखंड वीर शासन प्रिय हो तथा इस वैज्ञानिक युग में विश्व के सपूर्ण मानवों में प्रेम और सहयोग द्वारा अपने सिद्धांतों का प्रचार करना चाहते हों तो युग की पुकार है—सभी एक छत्र की छाया में आ जावें। अपने मतभेद भुला कर अनेकांत सिद्धांत से समन्वय मार्ग द्वारा व्यवस्थित संघ बना कर संपूर्ण विश्व मे शांति और व्यवस्था कायम कर वीर शासन की ध्वजा फहरावें।

—**जैन जगत् : समन्वय विशेषांक,**
रजत जयती अंक : अप्रैल, १९७२

# विभिन्न धर्मों में मंगलाचरण और पंच परमेष्ठी मंत्र

धर्म का वर्तमान व्यवहार पथ से लिया जाता है। धर्म की व्याख्या वेदान्ती—"अतोऽभ्युदय निश्रेयस्सिद्धिः सधर्मः" और जैनी 'वत्थु सहावो धम्मो,' तथा 'परस्परोपग्रहोजीवानाम्' करते हैं। व्युत्पति से 'धरयेतीति धर्मः' 'कर्त्तव्यमिति कर्मः' है। इन सबके गोलक में द्रव्य, क्षेत्र, काल और प्रवर्त्तक के भावों की प्रधानता से जन मानस को शान्त और व्यवस्थित करने के लिए जो मार्ग निकला, वही धर्म बन गया। महापुरुष जनता की कमियों को दूर करने के लिए समय की परिस्थिति के अनुसार जो मार्ग अच्छा समझे, वही धर्म बन जाता है और उसी का प्रचार उनके अनुयायी कर पथ का रूप धारण करा देते हैं। वे पथ ही सम्प्रदाय, मजहब, धर्म और पार्टी कहलाते हैं। विभिन्न धर्म इसी तरह बन जाते हैं।

यों धर्म का शाश्वत् रूप सार्वभौमिकता को वरण करता है। सर्व क्षेत्र और सर्व समय मे धर्म वर्तमान रहता है। उसकी व्याख्या एक ही है। वह है—"जैसे हमें जीना और सुख पाना अच्छा लगता है, वैसे ही दूसरे प्राणी भी अनुभव करते हैं, ऐसा समझ कर किसी प्राणी को नहीं मारना, कष्ट नहीं देना, दुःख देने का कारण नहीं बनना और

प्राणों का अतिपात नहीं करना तथा जैसा जीने का अधिकार स्वयं को है, वैसा सभी जीवों को जीने का अधिकार है, ऐसा समझ कर परस्पर सहयोग करे।" जीवों का परस्पर सहयोग का व्यवहार ही धर्म है। यही नित्य, सर्व क्षेत्रीय और सत्य धर्म है। इसे किसी न किसी रूप से सब धर्मों ने स्वीकार किया है, सभी पंथों ने मान दिया है और भविष्य में भी इसे मान मिलता रहेगा।

सभी धर्मों के आलम्बन, उनके सिद्धान्त और उनके मूल मंत्र हैं। क्षेत्र और परिस्थिति के अनुसार सिद्धान्तों में फेरफार होता है, उसी तरह मूल मंत्रों, प्रार्थनाओं के वाक्यों और मंगलाचरणों में भी अन्तर आ ही जाता है। मैं कुछ धर्मों के मंगलाचरणों के उदाहरण यहां प्रस्तुत कर रहा हूं :—

**वेदान्त मंत्र :**

वेदान्त व उनके निकटवर्ती धर्मों में गायत्री मंत्र प्रधान है इसी मंत्र से ब्राह्मण अपने को ब्राह्मण रूप में देखता है :—

**मूल मंत्र :**

ॐ भूव र्भुवः। ॐ तत्सवितुर्वरेण्यम्।
भर्गो देवस्य धीमहि। धियोयोनः प्रचोदयात्॥

**अर्थ :**

ॐ आदि शक्ति–ईश्वर का द्योतक है। उसे स्मरण करते हुए सूर्यदेव का जो धारण करने लायक श्रेष्ठ तेजपुंज है, उसका हम ध्यान करते हैं। हम उससे प्रार्थना करते हैं कि वह हमारी बुद्धियों को प्रेरणा प्रदान करे।

इस प्रार्थना में सविता–सूर्य प्रत्यक्ष दर्शी देव, दिव्य तेज रूप में दिखाई देता है। उससे बुद्धि की प्रेरणा मांगी गई है, जिससे दुनिया

के कर्तव्याकर्तव्य का बोध होकर कर्त्तव्य बुद्धि में कार्य करने की शक्ति प्राप्त हो। प्रार्थी का कार्य मंगलमय सिद्ध हो, ऐसी प्रार्थना की है। सभी प्राणी अपना मंगल चाहते हैं। उनका प्रथम उच्चारण त्रयात्मक शक्ति को याद करने का है। ॐ शब्द को ईश्वर की आदि शक्ति रूप में वेद और वेदान्त के सभी मार्गों ने स्वीकार किया है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश को उत्पन्न करने वाली 'अउम्' अक्षरों से उत्पन्न, ओ३म् ॐ लेखन से त्रयात्मक रूप स्पष्ट भासित होता है। ॐ उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य (वर्तमान परिपालन) का सत् रूप है। जिससे निरन्तर ससार का सक्रमण होता है। ॐ स्वयं अपने आप में भी एक मंत्र है।

**बौद्ध मंत्र :**

(१) नम्यो हो रेंगे क्यों ॥४॥

अर्थ—सब बुद्धों को नमस्कार हो।

इसमें तीर्थंकर और ईश्वर के स्थान पर बुद्ध की प्रार्थना की है। अरिहंत और सिद्ध के स्थान पर 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग कर सभी बुद्धों को नमस्कार किया है।

(२) बुद्धम् शरणम् गच्छामि
धम्मं शरणम् गच्छामि
संघं शरणम् गच्छामि

अर्थ—बुद्ध धर्म और संघ की शरण जाने से मंगल प्राप्त होता है अतः मैं बुद्ध की शरण जाता हूं, धर्म की शरण जाता हूं और संघ की शरण जाता हूं। तीनों की शरण मंगलदायी है, इसीलिए मत्र है। इस मंत्र द्वारा बौद्ध अपने आपको सुरक्षित और मार्गानुयायी अनुभव करते हैं। यह मत्र बोलना सभी बौद्धों को अनिवार्य है।

**इस्लाम मंत्र :**

"अल्ला हो अकबर"

अऊज़ु बिल्लाहि मिनश् शैत्वानिर्रजीम् ।
बिस्मिल्लाहि र्रह्मानि रहीम ।
अल् हम्दु लिल्लाहि रब्बिल् आलमीन् ।
अर् रह्मानिर्रहिमि मालिकी यौमिद्दीन ।
ईयाक नअ्बुदु व ईयाक नस्तईंद्र ।
इह्दीनस्सिरात्वल् मुस्तक़ीम् ।
सिरात्वल्लज़ी अन् अम्त अलै हिम् ।
ग़ैरिल मग् द्वूबि अलैहिम् व लद्द्वालीन ।।३।।
अर्थ—ईश्वर का नाम पुकारा जाता है ।
प्रार्थना इस प्रकार है :—

मैं पापात्मा शैतान से बचने के लिए परमात्मा की शरण मे जाता हूं । प्रभु ! तेरे ही नाम से मैं प्रारम्भ करता हूं, तू दया का सागर है, करुणामय है, तू सारे विश्व का रचयिता है, स्वामी है। हम तेरी आराधना करते हैं, तेरी ही मदद की मांग करते हैं। तू ही अन्त में न्याय करेगा। तू हमें सीधा रास्ता दिखा । उन लोगों को रास्ता दिखा, जो तुम्हारे कृपा पात्र है। जो पथ भ्रष्ट हैं उनको रास्ता मत दिखा ।

इस प्रार्थना में भी मंगल की कामना है। पाप से बचने का अर्थ ही मंगल की कामना है । इसमें ईश्वर को एक अलग न्यायाधीश, करुणासागर और संसार का रचयिता माना गया है, और उसी के आधार पर मुस्लिम मत वाले अपना दारोमदार मानते हैं। वही सबका कर्त्ता, धर्ता और पाप पुण्य का फलदाता है ऐसा स्वीकार करते हैं। अपराध की माफी देना भी उसी के बस का कार्य मानते हैं।

## जरथुस्त्री (पारसी) गाथा मंत्र :

मज़्दा अत मोहवहिश्ता व्रवाओस्वाश्योथनाचा व ओचा ।

सातृवहू मनंमटा, भशाचा इषुदेमस्तुतो भमा का कोभ्रा भहूरा फैरषेम् ।
वस्ना हृइ घ्येम् दाभ्रो भहूम् ॥४०॥

अर्थ :

हे अहूर मज्द । सर्वोत्तम दीने (धर्म) के कलाम और कामों के बारे में मुझे कह, ताकि मैं नेकी के रास्ते रह कर तेरी महिमा का गान करूं । तू जिस तरह चाहे उस तरह मुझे आगे चला । मेरी जिन्दगी को ताजगी बक्श और मुझे स्वर्ग का सुख दे ।

इस प्रार्थना में ईश्वर को ऊँचा ससार का संचालक मानकर नेकी और जिन्दगी के सुखी होने की माँग की गई है । इस प्रार्थना का प्राण तत्व मंगल कामों की मांग है । मंगलाचरण का मूल मन्त्र यही है, जो सब में समाविष्ट है ।

**ईसाई प्रार्थना :**

O God ! thou bless me. Lead kindly light, amid the encircling gloom, lead thou me on.

The night is dark and I am far from home lead thou me on.

**अर्थ :**

हे ईश्वर ! मुझ पर दया कर, प्रकाश पुञ्ज प्रदान कर । मेरा निजी घर दूर है । रात अंधेरी है, मुझे अभीष्ट स्थान पहुंचा आदि ।

**जैन प्रार्थना :**

णमो अरिहंताणम् ।
णमो सिद्धाणम् ।
णमो आयरियाणम् ।
णमो उवज्झायाणम् ।
णमो लोए सव्व साहूणम् ॥

यह मन्त्र गुण बोधक और सार्वभौम तथा सार्वकालिक है। समन्वयकारक सर्वदेवों की प्रार्थना का आधार है। महज्जनों एवं संतजनों को इसमें नमन किया गया है। यह पंच परम इष्ट मन्त्र—पंचपरमेष्ठी मन्त्र कहलाता है। संसार के उद्धारक, प्रवर्तक महात्मा, सिद्ध पुरुष और संत-जन सभी का इसमें समावेश है। अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओं को इन पदों से नमस्कार किया गया है। यह गुण पूजकों, भक्तों और मुमुक्षुओं का परम मन्त्र है। पूज्य बुद्धि का प्रकाशक अग्निस्तम्भ है। यही वशीकरण मंगलदायक और पापनाशक पद समूह है। प्रथम पद में अरिहंत और अर्हन्त दो प्रकार के उच्चारण होते हैं। दोनों का अर्थद्योतन एक दूसरे का पूरक है। अरिहंत अर्थात शत्रुओं का नाश करने वाले। जिनके राग-द्वेष के विकार रूप शत्रु नष्ट हो चुके हैं अथवा जिन्होंने काम, क्रोध, मान, माया, के कषायों, अव्रतों, प्रमादों, अशुभ योग और मिथ्यात्व के समस्त विकारों को जीत लिये हैं। जिन्होंने ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय के चार घाती कर्मों को नष्ट कर दिये हैं अथवा दुनिया में जिनका कोई दुश्मन नहीं है। जो अजातशत्रु हैं वे अरिहंत कहलाते हैं और इसीलिए उन्हें अर्हन्त पूज्य मानते है। समदृष्टि सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और कैवल्य को वरण करने वाले अर्हन्त बन जाते है। अरिहन्त और अरहन्त दोनों शब्द एक दूसरे के पूरक है। अरिहन्त होने से अर्हन्त और अर्हन्त हैं, इसलिए अरिहन्त हैं। द्वयार्थक किन्तु एक दूसरे के पूरक शब्दों का ज्ञान कराने वाला पहला पद है और उसमे अर्हन्तों अथवा अरिहंतों को नमस्कार किया गया है।

नमस्कार शब्द स्वयं मंगल मन्त्र है। नमन करने से वंदन और नंदन होता है। आमने-सामने वाले दोनों का नंदन और वंदन हो जाता है। दोनों की आत्मा में सुखद वातावरण की उत्पत्ति होकर मंगलमय बन जाता है। मंगल कामना का हमेशा मंगलमय बन जाना तात्कालिक

लाभ प्रकट मिल जाता है, अतः नमस्कार मंत्र परम श्रेष्ठ और प्राणि-मात्र का मंगलकारक है।

नमन करने वाला नम्र होता है। क्षमाशील होकर सामने की आत्माओं को अपनी ओर आकर्षित करता है और आशीर्वाद से बढ़ता हुआ महान् बन जाता है। नमस्कार विनय है। विनय धर्म का व मंगल का मूल है। नमस्कार स्वयं मंत्र है। अजेय शक्ति है। वशीकरण मंत्र है। प्रकाशकारी महान् तत्व है। नमस्कार मंत्र बड़ा सार्थक शब्द है।

पहले पद में अर्हन्तों को नमन करके हम जितने भी सत्य धर्म के प्रचारक, पूज्य और प्रवर्तक महात्मा पृथ्वी पर वर्तमान हैं और भविष्य में होंगे, उन सबको नमस्कार कर, उनके पुण्याशीर्वाद प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार के नमस्कार से आत्मा उन महात्माओं के गुणों की तरफ खिंच जाती है और उनके पद चिह्नों पर चलने को तत्पर होती है और उनके आशीर्वाद पाकर मंगलमयी बन जाती है।

इस प्रथम पद में किसी भी सम्प्रदाय का पोषक कोई शब्द प्रयोग नहीं किया है और न तत्सम्प्रदाय के प्रवर्तक का नाम लेकर ही नमस्कार किया है। इसमें सभी परमात्माओं, सशरीरी अवतारों, पैगम्बरों और महात्माओं को तथा धर्म प्रवर्तकों को जो इस पद के धारक हैं, नमस्कार कर लिया है; अतः प्रथम चरण मंगलदायी, प्रेरणाप्रद और शिवकारक है।

दूसरे चरण में सिद्ध पुरुषों को नमस्कार किया है। अशरीरी परमात्मा, मुक्तात्मा, सच्चिदानन्दमय परमात्मा और सफल साधक को नमन किया है। जब आत्मा आठों कर्मों का नाश कर चेतनादि निजी गुणों को प्रकाशित कर सत्, चित्त और आनन्दमय बन कर भव बन्धनों से मुक्त हो जाती है। संसार से मुक्त होने की साधना में सफलता प्राप्त

कर 'सिद्ध' पद को धारण कर लेती है। अनन्त प्रकाश को पाकर चिन्मय बन जाती है। आवागमन, जन्म मरण और संसार भ्रमण से ऊपर उठ कर शाश्वत स्थिति को पा लेती है, तब सिद्धत्व वरण करती है। उसी सिद्धत्व को दूसरे पद में नमस्कार किया गया है। सिद्धत्व अष्ट गुणों से युक्त होता है। इसका विशदार्थ जो मुक्त, सर्वज्ञ सर्वदर्शी तथा पूर्ण शक्ति के धारक विश्वचक्षु परमात्मा हैं, खुदा है, गॉड है, अन्तिम तत्व है, पूर्ण रूप है। उन्हें इस पद से नमस्कार कर उनका प्रकाश हृदय स्थल को पवित्र बनाने के लिए आमन्त्रित करते हैं।

तीसरे चरण में आचार्यों को नमस्कार किया गया है। आचार स्वयं पाले और अन्य को पलावे—वे आचार्य कहलाते हैं। यों प्राध्यापकों के मुखिया को भी आचार्य कहते हैं। अध्यापन कराने वाले, आचार संहिता का निर्माण करने वाले और आचार संहिता के अनुसार साधकों और उपाध्यायों को शासित करने वाले आचार्य कहलाते हैं। अरिहंत तीर्थंकरों की अनुपस्थिति में आचार्य ही संघ का मालिक, संचालक और संघ नायक तीर्थ प्रवर्तक कहलाता है। स्वयं समर्थ ज्ञाता बनकर अपने अधीनस्थ सूत्र शास्त्रों में निष्णात उपाध्याय एवं साधु समाज को ज्ञान, दर्शन और चारित्र में सुयोजित करता है। श्रावक और श्राविकाओं में सन्मार्ग प्रचार से धर्मांकुर पनपाकर ज्ञान, दर्शन और चारित्र की श्रीवृद्धि करता है। मिथ्यांकुरों का नाश करने के लिए न्याय, तर्क और दर्शन शास्त्र के सुप्रयोगों द्वारा आते हुए आक्षेपों का निराकरण करता हुआ, धर्म प्रचार में संघ की रक्षा करता है; ऐसे आचार्यों को नमस्कार किया है। ये आचार्य ३६ गुण के भण्डार होते हैं।

चौथे पद में उपाध्याय, अध्यापक, गुरु और शिक्षक होते हैं। २५ गुणों से युक्त होते हैं, सूत्र सिद्धान्त और व्यवहार ज्ञान के निष्णात

होते हैं और आचार्य के अधीनस्थ साधु या विद्यार्थियों को ज्ञान-दान देते हैं। आगम तथा तर्क शास्त्रों के दक्ष साधक ही उपाध्याय पद में आते हैं। ऐसे उपाध्यायों को नमस्कार किया गया है।

आचार्य एवं उपाध्याय सभी धर्मावलम्बियों में होते हैं। किसी विशेष नाम का उच्चारण नहीं होने से सभी धर्मानुयायी इन पदों से अपने संचालक और धर्म शिक्षक को वंदन कर सकते हैं तथा व्यवहार में महाविद्यालय के आचार्य और अध्यापकों को भी विद्यार्थी इन पदों से वन्दन कर सकते हैं। आर्य देश और विश्व के सभी गुण ग्राही देश इन पदों को आदर से अपना कर मंगल प्राप्त कर सकते हैं।

पाचवें पद में लोक के समस्त साधुओं को नमस्कार किया गया है। साधक, आत्म शोधक संत, मुनि, तपस्वी, निर्ग्रन्थ, साधु, ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, यति, श्रमण, परिव्राजक, संयती, ऋषि, अवधूत, योगी और महात्मा इसी पद में आते हैं। ऐसे किसी भी वेषधारी पांच महाव्रत, पंच यम, पंच शील, पंच आचार और दस यति धर्म के धारक साधक को साधु कहते हैं। आत्म-साधन में जो निरन्तर रहता है। ममता से दूर निर्वेद अवस्था को धारण कर कंचन कामिनी का त्यागी निर्ग्रन्थ स्वयंसेवी बनकर आत्मा के ज्ञानादिगुणों को विकसित करने तथा चारित्र की वृद्धि करने में जो मानव लगा हुआ है; वह किसी भी क्षेत्र का हो, किसी भी जाति का हो, किसी भी धर्म का हो तथा किसी भी वेष का हो, साधु कहलाता है। वह नमस्कार करने लायक है। ऐसे लोक के सभी साधुओं को नमस्कार पांचवें पद में किया गया है।

**पंच परमेष्ठी महिमा :**

(क) पांचों पदों में सभी मानव जो साधारण स्तर से ऊंचे उठे हुए हैं तथा जो अन्तिम स्थिति को पाने वाले हैं या पा चुके हैं, ऐसे महात्मा और परमात्मा समावेश हो जाते हैं। इन सबको नमस्कार

करने से आशीर्वाद मिलते हैं, नम्रता आती है, गुणों की अभिवृद्धि होती है, शांति मिलती है और पापों का नाश होकर मंगल की प्राप्ति होती है।

(ख) जो इस नमस्कार मंत्र का उच्चारण करता है। गर्भित अर्थ को समझता हुआ गुणों को ग्रहण करता है, वह निर्भय होकर परम शक्ति को सत्यं शिवं सुन्दरम् को पा लेता है। यह मन्त्र समष्टि का द्योतक है। व्यक्ति के महत्व की अपेक्षा समष्टि को महत्व देता है। व्यक्ति पूजा की जगह गुण पूजा की प्रशस्ति करता है। नाम महिमा की अपेक्षा गुणों की महत्ता स्वीकार कराता है। अतः सब प्राणियों का श्रेयकारी नमस्कार मन्त्र बन जाता है।

(ग) किसी एक नाम धारी या अदृश्य का गुणगान न कर संसार के तमाम महापुरुषों, संतों और संघ शासकों को इन पदों से नमस्कार कर लिया गया है। इन सबकी पूजा, भक्ति, सेवा और आराधना करना उत्तम मार्ग है। इस मन्त्र का यही रहस्य है।

(घ) इस मन्त्र को सभी धर्म, सभी क्षेत्र, सभी काल और सभी भाव उद्घोषित हो तथा इन पांचों पदों के नमस्कार को महत्व देकर समन्वय किया जाय और अपने-अपने इष्ट की जगह सबके परम इष्ट को समत्व बुद्धि से प्राचारित किया जाय। यही कल्याण कामना का एकता सूत्र है। इस एकता सूत्र का बोध पंच परमेष्ठी मंत्र में स्पष्ट भासित हो रहा है। यही इस मन्त्र की अपूर्व और अद्वितीय देन है। यह देन अनादि अनन्त प्रवाह में प्रवाहित होती रही है, हो रही है और होती रहेगी।

(ङ) 'जैन धर्म' शब्द रूढ़ बन गया है, अतएव इस परमेष्ठी मन्त्र की दूसरे मतावलंबियों और विद्वानों में साधना नहीं पनप रही है। यद्यपि 'जिन' के अनुयायी जैन और उनका धर्म जैन धर्म है।

जन से जिन और जिन से जैन का व्यवहार हुआ है अथवा जन पर दो ज्ञान और क्रिया की पांखें लग जाने से 'जैन' बनता है। शब्द व्यापक होते हुए भी सम्प्रदाय में बंधा हुआ है, अतएव इसकी मान्यता जग प्रसिद्धि में सीमित रही है। परमेष्ठी मन्त्र का उच्चारण आत्म-बोध कराता है। निर्भय बनाता है। कार्य-साधना में सफलता दिलाता है। कारण कि इसमें जगत् के विशिष्ट महाजनों के शुभाशीर्वाद सम्मिलित हैं।

(च) नमस्कार को ही मन्त्र मानना यह जैनत्व की दिव्य दृष्टि है। शब्द पुद्गलों का प्रकाशन है। शब्दोच्चारण भाषा के पुद्गलों का विस्तार है। यह जगत् के प्रत्येक भाग में फैल जाता है। शरीर के, मन के और भाषा के त्रयात्मक नमन को नमस्कार मंत्र की आत्मा कहते हैं। त्रयात्मक नमन सभी दिशाओं को और सभी दिशाओं मे रहे हुए सम्पूर्ण प्राणियों की आत्माओं को अपनी ओर आकर्षित करता है। वास्तव में नमस्कार मन्त्र सम्पूर्ण प्राणियों का प्राण है और इसी प्राण द्वारा जग जीवन को उद्बोधित और उद्घोषित किया जा रहा है तथा किया जाता रहेगा। इस मूल तत्व को समझने वाला विद्वान् परमेष्ठी मन्त्र की महिमा को समझ कर अवश्य अपनायेगा। भव्य प्राणियों को ही इसका बोध होता है, अतः भव्य प्राणी निश्चय ही इससे अपना परम पद प्राप्त करते हैं।

—जिनवाणी

# सामायिक और वर्तमान जीवन की अनुशासनहीनता

आत्मा का सुधार हो या समाज की व्यवस्था हो, दोनों दशा में प्रत्येक मानव का व्यवस्थित जीवन आवश्यक है। विश्रंखल जीवन एवं श्रंखला रहित चर्या किसी भी साधना की सिद्धि नहीं कर सकती। प्रकृति अपनी व्यवस्थित गति से परिक्रमणा करती है; लेकिन जब विकृति आ जाती है तो गति आक्रमण रूप बन जाती है, संहारक बन जाती है। सृष्टि का निर्माण एवं परिसंचालन एक गतिक्रम है। इसी को वैज्ञानिक लोग प्रगति-चरण कहते हैं। लेकिन जब विश्रंखलता बढ़ने लगती है, तब निर्माण की जगह नाश आ जाता है, संचालन की जगह अवरोध स्थान पाता है और स्थिति ऐसी बनती है कि अन्त में सृष्टि का संहार हो जाता है। पिण्ड बिखर जाता है। इसे ब्रह्माण्ड का नाश अथवा प्रलय कह सकते हैं। पूर्ण प्रलय का यही रूप है।

मानव जीवन का भी यही हाल है। चाहे आध्यात्म साधना हो, चाहे लौकिक-व्यवहार, चाहे वैज्ञानिक प्रगति हो, चाहे व्यावसायिक प्रगति, अनुशासन के बिना, व्यस्थित वृत्ति के बिना और तदनुकूल गति-क्रम के बिना संभव नहीं। प्रत्येक साधना के लिए एक लक्ष्य और एक लक्ष्य के अनुसार समय सारिणी बनाई जाती है। समय चक्र, दिनचर्या, समय विभाग अथवा कार्यक्रम के बंटवारे की व्यवस्था तैयार की जाती

है। शरीर स्वस्थ रहे। समय आहार, निहार, विहार, अभिहार एवं परिहार के लिए नियमन बना लिया जाय और उसमें साधना का भी निश्चित समय रख दिया जाय, तो मानव को इस व्यवस्था से चुस्ती, कार्य में गति एवं साधना की सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

आज का मानव जीवन प्रायः लक्ष्य शून्य है। विद्यार्थी विशेषकर हमारे देश के नवयुवक प्रौढ़ एवं वृद्धों का जीवन बिल्कुल उद्देश्यहीन बनता जा रहा है। कोई आदर्श सामने नहीं है। जब जो प्रवाह दुनिया का बह गया, आदर्श एवं लक्ष्य बना लिया। इसी हाल से आज का जीवन विलासितापूर्ण, और "गतानुगति को लीक", : के अनुसार अपने वर्ग में चलते हुए नित नये प्रवाह के अनुकूल बनता जा रहा है। स्वास्थ्य, श्री एवं नीति तीनों क्षीण होते जा रहे है।

आज का जैन सामान्यतः नाम मात्र के लिए 'जैन' शब्द लिखता है, कहता है और उसका व्यवहार करता है। लेकिन न उसमें जैनत्व की सूझ है न "जैन" शब्द का अर्थ ही समझता है। जैन जीवन का क्या लक्ष्य एवं क्या उसके पीछे गतिक्रम होता है उसकी भी ठीक जानकारी उसे नहीं है। आज का प्रौढ़ जैन अपने बालबच्चों पर भी वे सस्कार डालना पसन्द नहीं करता है। इसलिए विद्यार्थियों, बालकों एवं शिशुओं का जीवन प्रवाह किसी लक्ष्य की ओर अथवा यों कहें कि जैनत्व की ओर नहीं बढ़ रहा है।

पैसे की दौड़ में प्रौढ़ एवं युवा लोग वृद्धों के साथ आगे बढ़ रहे हैं। रात को १२-१ बजे सोते हैं, सुबह आठ बजे तक उठते हैं। थके-थके से रहते हैं। व्यापार, उद्योग एवं व्यवसाय तथा नौकरी के कार्य की चक्कियों में पीसे जा रहे हैं। उद्देश्य सिर्फ पैसे कमाना है। और जब जैसा साथी मिल गया या समाज में जब जैसा रिवाज चल गया, उसके पीछे समय और अर्थ व्यय कर अपने को धन्य मान रहा है।

जन्म लिया है, वह अवश्य मरेगा। "जातस्यहि ध्रुवो मृत्युः" के सिद्धान्त उसके दिमाग से निकल जाते हैं और मृत्यु दम तक आखिरी होड़ लगाता रहता है। जैसे आया उससे भी बदतर स्थिति में शरीर छोड़ जाता है। मरते समय रोता है, शोक करता है। लेकिन उसकी दीनता पर कोई नजर नहीं डालता। चाहे वह अन्त समय में कितना ही पश्चाताप करे कि "मुझे जिन्दगी में जरासी भी मौज नहीं मिली, आराम नहीं लिया, ईश्वर का भजन भी नहीं किया, शरीर की तरफ भी पूरा ध्यान नहीं दिया, मैंने बच्चों को ठीक नहीं पढ़ाया, घर अच्छे नहीं बनाये, धन पूरा इकट्ठा नहीं किया, मैं न तो श्रीमन्त बना और न मैंने धर्म ही कमाया। जैसे आया उससे भी अधिक पाप कर, दुष्कर्मों का बोझ लिए जा रहा हूं, अब मुझे कोई बचाने वाला नहीं है" आदि। अनुशासनहीन जीवन का अन्त बुरा होता है और होता भी वही है, जिसको मानव पसन्द तक नहीं करता।

'सामायिक' एक ऐसी कला है, एक ऐसा वैज्ञानिक उपक्रम है और इससे व्यवस्थित मानव व्यवहार और धर्म दोनों की सिद्धि प्राप्त कर सकता है। सामायिक का अर्थ समय से निर्धारित की गई ऐसी समता-बराबरी-यथानुरूप, यथताथ्य अर्थात् जैसी चाहिए वैसी सुनियोजित प्रवृत्ति है, जो जीवन के लक्ष्य को शांति से पूर्ण करती है।

'सम' बराबर के अर्थ में, जैसी चाहिये वैसी के अर्थ में और शांति के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला शब्द है। उसको लाने वाला या प्राप्त करने योग्य वास सामायिक कहलाता है। अतः इस रूप में हम अपनी जीवनचर्या को बड़े व्यवस्थित ढंग से जमा सकते हैं।

सामायिक व्यवहार क्रम और धार्मिक कृत्य दोनों में समान रूप से अंगीकार कर लेना ही नहीं है, सामायिक व्यवहार में लाना सामायिक का सच्चा उपयोग है। सामायिक यद्यपि परिभाषिक शब्द है, फिर भी अनेकान्तिकसापेक्ष व्याख्या से व्यवहार और धर्म दोनों की

लक्ष्य-सिद्धि का अर्थ भी प्रकट कर रही है। यहां दोनों का स्वरूप बतलाया जा रहा है।

### व्यवहार सामायिक :

मैं तो व्यवहार के अलावा कोई विशेष जीवन स्थिति को सामायिक के अर्थ मे स्वीकार भी नहीं करता। व्यवहार में ही सामायिक की साधना की सिद्धि स्वीकार करता हूं, फिर भी हमारे आर्य पुरुषो एवं जैनियों की मान्यता के अनुसार उसे द्विधा रूप में स्वीकार कर, व्यवहार सामायिक की उपयोगिता का अभिगम कराता हूं।

हमारा जन्म होते ही हम हमारे जीवन के हेतुओं को समझ नहीं पाते, लेकिन हमारे माता पिता इन सब बातों को जानते हैं, जानना भी चाहिए। जिनके माता-पिता, जीवन-ज्ञान के धनी हैं; उनके वहां हमारा जन्म विशेष सार्थक बन सकता है। इसीलिए समझदार ज्ञानियों से प्रार्थना है कि वे अपने जीवन को सामायिक रूप में बनालें, ताकि पिछली पीढ़ी उस रूप बनने मे तत्पर हो सके या आपको भी अपनी संतानो में उसी व्यवस्था को ढालने में रुचि पैदा हो सके।

मैं बाल एवं शिशु जीवन की सामायिक न बताकर युवक, प्रौढ़ एव वृद्ध पुरुषों की सामायिक बता रहा हूं। कोई भी मानव स्त्री या पुरुष, चाहे वह उद्योगपति हो, व्यावसायिक हो, कृषक हो, उत्पादक हो, मालिक हो या नौकर हो, पति हो या पत्नी हो, अध्यापक हो या शिष्य हो; उसका जीवन-क्रम समान रूप से जिस समय जैसा चाहिए वैसा अथवा यों कहूं कि शरीर, श्री एव चारित्र को अच्छी तरह सुरक्षित बना सकें, वैसा बना लेना चाहिए। जैसे यदि मानव अध्यापकीय जीवन बिताता है, तो उसकी जीवन की सम्पूर्ण आयु का अनुमानिक विभाग कर लेना चाहिए। उसके बाद दिनचर्या को भी विभागशः प्रवृत्त होने देना चाहिए। मान लीजिये मैं एक अध्यापक हूं, तो प्रातः ४ बजे उठूं, उठते ही अपने सम्पूर्ण शक्ति का नाम स्मरण और नमस्कार करूं,

उसके लिए ५ मिनट रखलूं। कुल्ला कर और शौच स्नानादि से निवृत्त हो, ईश्वर भजन अथवा आत्म-चिन्तन करने के लिए १ घंटा बैठ जाऊं। इस तरह ६ बज जाते हैं। १ घंटा विहार अथवा व्यायाम में खर्च करूं। बाद में नाश्ता वगैरह कर अपने स्वाध्याय अथवा किसी वस्तु की अन्वेषणा में १०।। बजा दूं। तदन्तर अपने शिक्षक के कार्य में ४ बजे तक लगा रहूं। वहां से विश्रांति पा घर ५ बजे तक मनोविनोद पूर्वक पहुंच जाऊं। शौचादि कृत्य से निवृत्त हो, खाना खाकर सायंकालीन प्रार्थना में लगूं अथवा वायु-सेवन करने निकल जाऊं। ७ बजे से बच्चों के साथ बैठकर उनकी प्रक्रियाओं एव अध्ययन का निरीक्षण, शिक्षण अथवा परीक्षण करूं। अपनी पत्नी के साथ दिन भर की मधुरचर्या के बारे में वार्तालाप करूं और बच्चों के स्कूल के कार्यों को देखूं तथा आगे के दिन की पढ़ाई की तैयारी करूं। १० बजे ठीक शयनासन पर पहुंच जाऊं। अपने वैयक्तिक अथवा युगल जीवन की साधारण प्रक्रिया के साथ विश्रांति लाभ लेऊं। प्रात: से फिर उसी तरह जीवन गति करता रहूं।

इसी तरह व्यवसायी अपने समय विभाग को बांट कर दिनचर्या पूर्वक जीवन को सम, समान रूप से व्यवस्थित कर जीने का मजा लूट लेता है। अन्य नौकर या मजदूर भी अपनी मजदूरी के समय की मौज लेता हुआ, शेष समय को भी व्यवस्थित बांट कर जीवनानन्द प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार वह जीवन को व्यस्थित श्री, स्वास्थ्य एवं मर्यादा युक्त भोग करता हुआ समापन करता है। दिली दर्द साथ नहीं ले जाता, कोई मलीन वृत्ति मरते समय दर्द नहीं देती। जो लक्ष्य अपनाया उसकी पूर्ति उसने करली, इससे संतोष के साथ वह स्वस्थ-मरण को वरण कर सकता है। इसे ही अनुशासन युक्त जीवन कहते हैं, इसे ही सामायिक जीवन बोलते हैं और इसे ही व्यवहार सामायिक कहते हैं।

**धर्म सामायिक :**

इसे आप्त पुरुष आत्म-साधना की पारिभाषिक शब्द रूप सामा-

यिक कहते हैं। जो आत्मा संसार के जन्म-मरण से भयभीत हो, मोक्ष का इच्छुक हो, मुमुक्षु बन जाने की इच्छा रखता हो, जीवन के किसी विशेष रूप को प्राप्त करना चाहता हो, संसार के चलते हुए शांत शृंखल जीवन से भी ऊपर उठकर कोई विशेष चेतन विधि प्राप्त करने की तीव्र उत्कण्ठा रखता हो तथा जो व्यवहार जीवन की उपेक्षा करता हो, जिस मानव का प्रधान लक्ष्य जड़ को चेतन से अलग करने का है, मुक्त होने का है, प्रकाशमय बन जाने के लिए जो लालायित है और जो मानव आत्म शक्ति से चिन्मय बनने की धुन रखता है, वह धर्म—सामायिक का वरण करने का प्रयास करता है। यह गीतार्थ है।

आत्म पुरुषों ने अपने आत्मज्ञान एवं अध्यात्म विज्ञान से यह जाना कि ससार में जड़ एवं चेतन दो तत्व हैं। दोनों के मिश्रण से हमारा जन्म-मरण का चक्र चल रहा है। हम जड़ के जाल में फंसे हुए हैं, उससे मुक्त होना ही हमारा स्वत्व प्राप्त करना है। स्वत्व प्राप्ति के बिना दुनिया के सब साधन व्यर्थ हैं पराधीनता से स्वाधीनता प्राप्त कर पूर्ण चिदानन्द बन जाना श्रेयस्कर है। अतएव उन्होंने आत्मसाधना के मार्ग आविष्कृत किये। स्वयं उन मार्गों पर चले। प्राप्त अनुभवों के आधार पर भव्य जीवों को उद्बोधन दिया पूर्णता प्राप्त कर लक्ष्य सिद्धि की ऋद्धि से सम्पन्न बन, दूसरे साथियों को उसका लाभ लेने के लिए प्रेरित किया। यही मार्ग, वही परिष्कृत गति और वही उपक्रम सामायिक रूप में प्रसिद्धि में आया।

कुछ नियमित समय की सामायिक होती है और एक जीवन भर की सामायिक होती है। दोनों के लक्ष्य सामने होते हुए भी साधना में बड़ा अन्तर माना जाता है। सारा समय साधना में देने वाला यावज्जीव सामायिक करता है और कुछ समय के लिए साधना करने वाला एक मुहूर्त दो मुहूर्त अथवा अधिक मुहूर्त की सामायिक करता है।

सामायिक दो तरह की होती है:—द्रव्य सामायिक और भाव सामायिक।

द्रव्य सामायिक बाह्यलिंग की और बाह्यशरीर की एक जगह स्थिरता आदि चर्या को लेकर होती है और भाव सामायिक आत्मा के चिंतन स्तर को छूती है। बाह्य सामायिक से स्थिरता तथा अन्य कार्यों से विलग होने का बोध होता है और मर्यादा का पालन न होकर भाव सामायिक में गति करने की सुलभता मिलती है। जीवन भर की सामायिक करने वाले मे।

जयं चरे जयं चिट्ठे जयं मासे जयं सए।
जयं भुंजंतो पाव कम्मंन बंधई॥

इस लक्ष्यार्थ का पालन करने की योग्यता आ जाती है। आत्मा की तरफ प्रधान लक्ष्य रहता है।

वर्तमान मानव जीवन को अनुशासित बनाने में दोनों प्रकार की सामायिक आवश्यक है। पात्रता के अनुसार ग्राह्य हैं। साधु जो साधनामय जीवन बिताता है, उसके जीवन में अनुशासन आने के लिए प्रत्याख्यान के अलावा सच्चे अर्थ में सम, शांति और सम, समानता दोनों का वरण करना आवश्यक है। यदि जीवन में और दैनिकचर्या में इन दोनों का अभाव है, तो वह उच्छृंखल जीवन वाला साधक "इतो भ्रष्टस्ततस्भ्रष्ट:" इस जीवन से भी भ्रष्ट हो जाता है और आगे के जीवन के लक्ष्य से भी अलग हो जाता है। आजकल का अधिकांश साधकों का जीवन और उनकी यावज्जीवन की सामायिक प्राय: विकृत हो गई है।

अनुशासन जीवन का प्राण है। संघ में अनुशासन रहना आवश्यक है। अनुशासित संघ विजयी होता है। लक्ष्य एवं शांति को वरण करता है। संघ के चार तीर्थ रूप हिस्से हैं—साधु, साध्वी, ये दो यावज्जीव सामायिक को वरण करने वाले होते हैं और श्रावक, श्राविका नियमित सामायिक जीवन को धारण करते हैं। चारों अंग दो साधक श्रेणियों में विभक्त हैं। वीर शासन उनका अनुशासन करते

के लिए आगमानुसार प्रेरणा देता है और द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव के अनुसार अनुशासित रहने के लिये बाध्य करता है।

श्रावक-श्राविका को अपने जीवन यापन के साधनों से सम्पन्न होने के कार्यों की प्रवृत्तियां करनी होती हैं, उस से समय निकाल कर सामायिक साधना करते हैं। इससे जीवन में व्यवस्था और दैनिक क्रियाओं में गति आती है। अपनी दैनिकचर्या में, जब जितना समय बचा कर साधना कर सकता है, प्रत्येक सुज्ञ मानव अवश्य करे; यही वीर शासन की अनुशासन शीलता है। इसी से मानव व्यवहार तथा धर्म, इहलोक तथा परलोक, आभ्यन्तर एवं बाह्य आत्मिक शारीरिक और लौकिक तथा अलौकिक लक्ष्य की सिद्धि कर सकता है। जीवन को श्रेयस्कर, व्यवस्थापूर्ण एवं शांतिमय बना सकता है तथा अन्तिम देह विसर्जन में भी शांति का वरण कर सकता है।

सामायिक का साधक विश्वजीवन को नियन्त्रित एवं सम्परक बनाता है, सर्वोदय मार्ग का अनुसरण करता है। जो मानव स्वयं शांति चाहता है, समानता पसन्द करता है वह विश्व बन्धुत्व को प्राप्त करता है। विश्व धर्म को पालता है व साम्प्रदायिक वातावरण से ऊपर उठकर प्राणिमात्र का हित-चिन्तक बनता है। सच्चा जीवन उसी का है जो अपने जीवन को सामायिकमय बनादे और स्वात्मा का श्रेय तथा परात्मा का आशीर्वाद प्राप्त कर परमात्मा बन जाये।

---

# स्त्री मुक्ति : एक यथार्थ

एक समय था। नीति वाक्य व्यवहृत था—

पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्रो रक्षति वृद्धत्वे, न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति ॥

वेद वाक्य था

स्त्री शुद्रो नाधीयताम्।

धर्म वाक्य थे

दर्शनात् हरते चित्तं, स्पर्शनाद् हरते बलम्।
भोगात् हरते वीर्यम्, नारी प्रत्यक्ष राक्षसी ॥

और

न रक्खसीसु गिज्झेज्जा गण्डवच्छासु णेगचित्तासु

और भी बहुत लोकोक्तियां एवं धर्मोपदेशों में सैकड़ों गाथाएं स्त्री के विरुद्ध रची हुई हैं। जिनका वर्णन एक बड़े ग्रन्थ का आकार बन जायगा।

वास्तविकता कुछ और है। मानव पुरुषार्थशील होने से पुरुष कहलाया। उसकी शौर्य की प्रतिभा एवं शारीरिक गठन की विशेषता ने नारी को गौण करके माना। नारी भोग की सामग्री एवं गृह-व्यवस्था की गृहीणी मात्र रह गई है। स्त्री का शरीर-गठन सन्तान पैदा करने योग्य एवं पुरुष को आकर्षित करने योग्य माना गया। शौर्य, बुद्धिमता, प्रशासन की योग्यता एवं कला-कौशल सम्पन्नता की भण्डार नारी पुरुष की गुलाम बनती चली गई।

मानव ने स्त्री समाज पर जो अत्याचार किये और वर्तमान में जो किये जा रहे हैं, वे नृशंसता से कम नहीं हैं। पुरुष का स्त्री के बिना काम नहीं चलता, फिर भी धूर्तता से उसे हेय बताकर धर्मदेशना में भी उसे त्याज्य कहा गया।

एक समय था, स्त्री परिग्रह में मानी जाती थी। यह ऐतिहासिक एवं धार्मिक सत्य है कि पार्श्व संघ में चातुर्यामिक धर्म का प्रचलन था। वहां चौथा ब्रह्मचर्य महाव्रत अलग से नहीं माना जाता था। स्त्री को अन्य वस्तुओं के समान परिग्रह की तरह मान लिया गया था। यों वह परिग्रह होती भी है, लेकिन उसको भोगोपभोग के योग्य वस्तु के समान गिनना, कितना मार्मिक एवं हृदय विदारक व्यवहार हो सकता है? धर्म मार्ग में इस प्रकार की प्रशस्ति घृणास्पद एवं निंदनीय है।

विवाह करने पर स्त्री और पुरुष परस्पर पति-पत्नी बन जाते हैं और एक दूसरे के प्रति एक दूसरे का ममत्व होने से दोनों ही परिग्रह की कोटि में आ जाते हैं। पारस्परिक सम्बन्ध परिग्रहात्मक है, लेकिन—

ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी।
ये सब ताड़न के अधिकारी॥

स्त्री को ताड़ने योग्य तक धर्म-प्रवर्तकों ने अपनी रचनाओं में लिख मारा है। ये संत बनने वाले तुलसीदास रूपी महापुरुष भूल गये हैं कि—

जैसा ध्यान हराम में, वैसा हरि में होय।
चला जाय बैकुण्ठ में, पला न पकड़े कोय॥

यह कहने वाली उनकी सन्मार्ग दर्शिका कौन थी? उन्हीं की पत्नी—नारी न? प्राचीन भारत के विरक्त कहे जाने वाले संतों, महंतों, और महापुरुषों ने नारी को नारी के रूप में नहीं देखा।

'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः' के रचयिता या रचनकर्ताओं ने अपनी जन्म देने वाली माता को भी कितनी घृणित

दृष्टि से देखा और अपने उपदेशों में उसका वैसा ही रूप प्रचारित किया है यह कितनी घोर विडम्बना है। धर्म कहां और कैसा, यह एक प्रश्नवाचक चिह्न बन कर रह गया है; क्या कोई उत्तरदाता है इसका ?

संतों, महंतों, महात्माओं, तीर्थंकरों और अवतारों की जन्मदात्री मां का इतना अनादर करते हुए, उन्हें कुछ सोचना चाहिए था। क्या माता के बिना इस जगत् में उनका कोई अस्तित्व रहता ? जिसने पुरुषत्व की सभी शक्तियों का दान किया, वही माता, बहन, पत्नी, और धाय अब संसार के लिए अनुपयुक्त कैसे बन गई ? और तो और, उस शक्ति रूपी महामाता को मोक्ष की अधिकारिणी भी नहीं माना। क्या यह पुत्र, भाई और पति आदि की कृतघ्नता नहीं है ?

जैसे स्त्री कामिनी है, वैसे पुरुष भी कामी है। जैसे स्त्री के अन्दर अंग, प्रत्यंग पुरुष के लिए आकर्षक हैं, वैसे पुरुष के अंग-प्रत्यंग भी स्त्री के लिये आकर्षक हैं। दोनों के ही शरीर घृणा करने लायक हाड़-मांस के पुतले हैं। पुरुष स्त्री को व्यभिचारिणी या राक्षसी कहने का अधिकारी है, तो स्त्री भी पुरुष को लपटी और राक्षस कहने की अधिकारिणी है। शरीर रचना में क्रमानुसार कुछ अन्तर होता ही है। शरीर रचना के अन्तर को लेकर उसकी चेतन सत्ता की योग्यता को ढंक देना, अन्याय और अधर्मपूर्ण व्यवहार है। जैन-दर्शन में यदि ऐसा कोई वर्णन है, तो वह सर्वज्ञ का नहीं, तीर्थंकर का नहीं, अपितु पीछे के अहंमन्य आचार्यों का है।

जैन दर्शन के श्वेताम्बर ग्रन्थ स्त्री को मुक्ति की अधिकारिणी मानते हुए भी दृष्टिवाद ज्ञान की अधिकारिणी नहीं मानते। पूर्वों का ज्ञान अथवा आहारक शरीर की अनुपलब्धि या कई प्रकार की अन्य लब्धियों की अनुपलब्धि, स्त्री जाति की निम्नता की द्योतक हैं। जहां स्त्री, पुरुष और नपुंसक लिंग सिद्ध हो सकते हैं और अनन्त ज्ञान, दर्शन वीर्य और आनन्द की प्राप्ति की क्षमता नारी में मानते हैं, वहां

विशिष्ठ श्रुत एवं मन: पर्यय ज्ञान में पुरुष के समान ज्ञानधारिणी क्यों नहीं माना जाता ? स्त्री में केवली बनने की योग्यता मानते हुए भी विशिष्ट श्रुत, अवधि एवं मन: पर्यय ज्ञान की पूर्णता की योग्यता से वंचित रखने की बात करना, एक प्रकार की अज्ञानता ही कह सकते हैं।

स्त्री अपने शारीरिक तथा सामाजिक स्थिति के कारण नग्न साधुत्व स्वीकार नहीं कर सकती। अत: वह केवली, सर्वज्ञ और मुक्त नहीं बन सकती। यह धारणा, यह मान्यता और यह विवेचना सर्वज्ञता की वास्तविक स्थिति को स्पर्श नहीं करती, क्योंकि स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुंसक वेद नष्ट होकर आत्मा निर्वेदवस्था को प्राप्त करता है, तभी सर्वज्ञ, ब्रह्म और सर्वदर्शी बनता है। केवल शरीर धारण करने वाले लिंग का सम्बन्ध यदि परमात्मा बनने से जोड़ने का है, तो पुरुष भी सर्वज्ञ, ब्रह्म और सर्वदर्शी नहीं बन सकता।

नग्नत्व के एक पक्षीय आग्रह ने स्त्री को तीर्थंकर बनने से रोक दिया। क्या यह अनेकांत और सर्व सम्मत सत्य जिन-धर्म है ? यही सर्वज्ञ की वाणी है कि लिंग सदा मुक्ति प्राप्ति का बाधक रहे ? मैं पूछना चाहता हूं कि यदि स्त्री सदा सभी दृष्टियों से सभी क्षेत्रों में घृणा की पात्र है, तो उन्हें संघ और तीर्थ में श्राविका और साध्वी के रूप में स्थान क्यों दिया जाता है ? साध्वी क्यों बनाई जाती है ? छट्ठे गुणस्थान वर्ती साधु पुरुष चौदहवें गुणस्थान को पाने की क्षमता रख सकता है, स्त्री क्षमता को क्यों चैलेंज किया गया है ?

स्त्री सदा धर्मनिष्ठ रही है। पुरुषों से अधिक संख्या में साध्वी और श्राविका रूप में गिनी जाती रही है। आत्मा स्त्री और पुरुष में भिन्न नहीं होती। स्वाभाविक गुणों को प्रकट करने में दोनों की समान क्षमता है। बाह्य लिंगों के परिवर्तन में विज्ञान ने सफलता प्राप्त की है। बाह्य लिंग परिवर्तन के साथ व्यवहार भी बदलते जाते हैं। वास्तविक

का परिग्रह भी चलता फिरता दृष्टिगत होता है। वह महान् निर्ग्रन्थ है, जो वस्त्र रहित या सहित होते हुए भी ममता रहित होता है। हमें दिगम्बर और श्वेताम्बर के भेद को मिटाना है और इस मिटाने के कार्य में प्राज्ञ और निर्ग्रन्थ विरक्त मानव अधिक उपयोगी होते है। मेरा नम्र निवेदन है कि :—

भावे जिनवर पूजिये, भावे दीजे दान।
भावे भावना भ.विये, भावे केवल ज्ञान॥

भावनाओं को महत्त्व देने वाले महावीर के सभी अनुयायी द्रव्य भेदों को भूलकर शीघ्र नारी मुक्ति के प्रश्न को हल करें। शरीर से नारी मान कर उसे आत्मा से भी नारी ही मानना जैनत्व और निर्ग्रन्थ की अवज्ञा करना है। "परिणामे बन्ध :—परिणामे मोक्ष:" को मानने वाले जैन शरीर और बाह्य लिंग का आग्रह क्यों करते हैं? यही बड़ा आश्चर्य है।

महान् आश्चर्य है कि षड्जीवनिकायों के रक्षक नारी के संरक्षण को कैसे भूल जाते हैं? संसार जीव-अजीव द्रव्यों के मिश्रण से बना है और गति कर रहा है। जीवत्व जहा है, वहां चेतन सत्ता है। जहां जीवत्व नहीं है, वहां जड़त्व है लेकिन जड़ता भी अमुक समय के लिये आत्मोन्नति में साधक रूप से ग्राह्य है। पुण्य भी जड़ है, फिर भी वह तीर्थंकरत्व आदि के रूप में ग्राह्य है, लेकिन जीवत्व और वह भी नारीत्व, मातृत्व और सर्जनस्वरूपा देवी के लिए आदरभाव न हो, यह विषय पुनर्विचारणीय है।

एक बात याद दिलानी है कि नमस्कार मंत्र का पाठ क्या आचार्य नहीं करते? नर साधु नहीं करते या उपाध्याय नहीं करते? मैंने तो सुना है कि अर्हन्त भी नमो तित्थस्स के रूप में चतुर्विध संघ को नमस्कार करते हैं, जिस में नारी भी आ जाती है। सत्य क्या है?

यह मैं नहीं जानता। मैं धर्म शास्त्रों का एक अल्पज्ञानी हूं, फिर भी इतना जानता हूं कि जिस नमस्कार मंत्र के द्वारा लोक में सब साधुओं को नमस्कार किया जाता है, उसमें क्या नारी साधु का नमस्कार नहीं आता है ? मेरे उत्तम पुरुषो! आदरणीय आचार्यों और विद्वान् साधुओ! मुझे मार्ग दर्शन करो कि नमस्कार मन्त्र की महानता को स्वीकार करने वाले हम सब भाव नमस्कार को ग्राह्य मानते हुए भी द्रव्य नमस्कार को निन्दनीय और अग्राह्य क्यों ठहराते हैं ? यदि आप यह साबित कर दें कि साध्वियां इस पद में नहीं हैं, तो मैं आज ही नारी मुक्ति की बकवास करना छोड़ दूंगा। मैं भी वीरानुयायी हूं। वीर को जितना महान् मैंने समझा है, जितना विश्व व्यापी मैंने माना है शायद सम्प्रदाय प्रेमी ऐसे रूप तक पहुँचने पर सम्प्रदाय नष्ट होने का भय खा जायेंगे। जिनको अपनी वेष-भूषा प्यारी लग जाती हैं, वह उसी को अच्छी मानता है; दूसरों की वेष-भूषा को बुरी मानता है। यही वृत्ति हम वीर शासन के पुजारियों की हो गई है। श्वेताम्बर अपनी तारीफ से बाज नहीं आते, तो दिगम्बर इससे पीछे नहीं रहते। तेरापन्थी इससे भी और आगे बढ़ जाते हैं तो स्थानकवासी भी एक पैर आगे धरते हैं। इससे वीर शासन कभी चमक नहीं सकता। एकरूपता और विशालता को अपनाने से ही जैन धर्मी विश्व में अस्तित्व रख सकेंगे और फैल सकेंगे।

इसी सन्दर्भ में हमें स्त्री-मुक्ति प्रश्न को भी विशाल दृष्टि से सापेक्ष वृत्ति से और अनेकान्त-सिद्धान्त की कसौटी से परखना है। यदि इस कसौटी पर कस कर आप इसे परखेंगे तो नारी-मुक्ति खरा सोना मालूम पड़ेगी। मुक्ति किसी भी लिंग में बन्धी नहीं रहती। मुक्ति गुणस्थानवर्ती भावों से प्राप्त की जा सकती है। क्षपक (क्षायिक) श्रेणी में उत्तरोत्तर गति करता हुआ मानव किसी भी लिंग में हो, मुक्ति प्राप्त कर सकता है। महावीर का उद्घोष है कि मुक्ति को

साधना में यद्यपि शरीर बाधा नहीं पहुंचा सकता, लेकिन एक दिन मुक्ति प्राप्ति में शरीर को भी छोड़ना पड़ता है। यह ध्रु व सत्य है। इसे शाश्वत माना जाय। "सम्यग्ज्ञान-दर्शन चारित्राणि मोक्ष मार्ग:" मोक्ष प्राप्ति का मार्ग सम्यज्ञान और सम्यग्दर्शन तथा सच्चा चारित्र है। यह मार्ग स्त्री और पुरुष दोनों के लिए समान है। नपुंसक के लिये भी, यही मार्ग है। स्त्रियों के लिये भगवान् महावीर ने अलग मार्ग नहीं बताया है। इसी तरह दान, शील, तप और भाव भी मुक्ति के मार्ग बताये है। निर्जरा तत्व कर्म बंध को नाश करने वाला और संवर तत्व आते हुए कर्मों को रोकने वाला माना है। ये धर्म भी स्त्री पुरुष के लिए समान है। नये कर्मों का आगमन रुकना और पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करना मोक्ष मार्ग है। इस मार्ग पर स्त्री को चलने के लिये महावीर ने कभी नहीं रोका। पांच महाव्रत स्वीकार करने में वीर ने स्त्री को पीछे नहीं रखा। विवेक जागृत करने हेतु एक अपेक्षा से ही संयम साधना के लिये पुरुषों को स्त्री से और स्त्री को पुरुषों से दूर रहने का उपदेश दिया है।

धम्मो मंगलमुक्किठ्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवावि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो॥

और

कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष:
कषायमुक्ति: किल मुक्तिरैव

उक्त दोनों मुक्ति स्त्रोतों में स्त्री को वंचित नहीं किया गया है। अहिंसा संयम और तप भी मुक्ति के मार्ग हैं। संयम पालने के नियमों में स्त्री पुरुष की समान साधना बताई है। 'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्ष:' ज्ञान और क्रिया से मोक्ष मिलता है—यह भी प्रशस्त है, लेकिन

स्त्री को इन ज्ञान और क्रियाओं से वंचित न कर मोक्ष से वंचित करना कहाँ का उपदेश है ?

पुरुष आचार्यों ने स्त्रियों के प्रति अपने चित्ताकर्षण की दुर्भावनाओं को संघ के सामने व्यक्त करने की अपेक्षा स्त्री को निंदनीय बताकर अपनी प्रशस्ति करवी है। इस प्रकार की प्रशस्ति अनेकांत-धर्मी, वीरानुयायी नहीं कर सकते। यथार्थ को महत्त्व देना वीरानु-यायियो का कर्तव्य है।

तब तक नारी संसार की विधाता माता है और रहेगी, जब तक विज्ञान अन्य तरीकों से संसार वर्द्धन का प्रयोग विस्तृत न कर दे। दुनिया में सभी प्राणी दुःखों से और अप्रिय भोगोपभोगों से मुक्ति चाहते हैं और इसके लिये निरंतर प्रयत्न करते रहते हैं। नारी को भी यही भूख है, वह पीछे नहीं रह सकती। बुद्धि में नारी पुरुष से एक कदम आगे हैं। पुरुष नारी को सहधर्मिणी मानकर (शरीर में जिस तरह नाड़ी का अस्तित्व है वैसे) चले तो नारी से सम्बन्धित माने जाने वाली तमाम बाधायें लुप्त हो जायें। जिस नारी की अप्राप्ति में पुरुष कितना क्षुब्ध होता है, उसी नारी की प्राप्ति के बाद पुरुष कितना नृशंस हो जाता है। यह प्रत्यक्ष उदाहरण है, वह यह नहीं समझता कि पुरुष और नारी का परस्पर नाता समानता का है।

नारी जितनी कोमल है उतनी पुरुषार्थशील दुर्गा भी है। जिन-जिन गुणों में पुरुष आगे बढ़ा हुआ है, उन-उन गुणों में (साधन मिलने पर) स्त्री भी आगे बढ़ सकती है। आज के युग ने साबित कर दिया है कि नारी अब साधन सम्पन्न होकर पुरुष से आगे बढ़ने में प्रयत्नशील है। आज नारी पुरुष की नृशंसता के प्रति सजग हो गई है। इस युग को सम्प्रदायवादी कलियुग या पंचमआरा कहते हैं, लेकिन इनके कहने मात्र से नारी-प्रगति रुक नहीं सकती। वर्षों हो गये पुरुषों

को नारी पर अत्याचार और हत्याचार करते । अब ज्यों-ज्यों समझ का क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा है, नारी भी आगे बढ़ती जा रही है। कुछ पुरातनवादी इसे उच्छृंखलता भले ही कहें, लेकिन इसे स्वतंत्रता की ओर प्रगति कहना अधिक उपयुक्त है। अब लौकिक व्यवहार के बन्धनों को तोड़कर नारी आगे बढ़ सकती है, तो वह संसार चक्र के भव भ्रमण से मुक्ति क्यों नहीं पा सकती ? नारी-मुक्ति सुनिश्चित है। नारी-मुक्ति धर्मानुकूल है। नारी-मुक्ति आत्मोन्नति के लिये साधक मान्यता है। अतः वीर के अनुयायियो ! अपने पुराने जर्जर कदाग्रह को छोड़ो और ज्ञान, विज्ञान और धर्मसंगत स्त्री मुक्ति को स्वीकार कर धन्य बनो।

श्री अमर भारती
अक्टूबर, १९७३

सुधर्मा
१५ अगस्त, १९७३

# वर्तमान संसार और अहिंसा धर्म

भौतिक शक्ति के जन्मदाता आज के तमाम राष्ट्र अपनी लोलुप्साओं की पूर्ति के लिये दुनिया में कितना अंधेरा मचा रहे है ? एक राष्ट्र की शक्ति क्षीण कर दूसरा राष्ट्र अपना प्रभुत्व जमाने के लिये किन प्रयोगों का अवलम्बन कर रहा है ? यह किसी से छिपा नहीं है। आज का सारा संसार युद्ध का दावानल भड़का रहा है; इसमें कोई शक नहीं।

जापान अपनी तीव्र तृष्णा का अन्त चीन राष्ट्र का भक्षण करने में माने हुए है और उसके लिये शक्ति भर दुष्ट प्रयोगों द्वारा भी प्रयत्न कर रहा है। स्पेन का गृह-युद्ध अभी विश्रांति न ले सका तथा जर्मन का नेपोलियन हर हिटलर मध्य यूरोप का सर्वस्व हरण करने में लगा हुआ है। क्यों न हो आज का शस्त्रास्त्र दावानल बड़ी-से-बड़ी शक्तियों को स्तम्भित सी खड़ी कर देता है। यही हाल जेकोस्लोवेकिया और आस्ट्रिया का हुआ, जिसमें फ्रांस और इंगलैण्ड के बड़े दादाओं ने भी नीचे नमकर अपने डरपोकपन का परिचय दिया। आगे भी दक्षिण अफीका पर इसी तरह अपना दुर्दम प्रभाव स्थापित करेगा। आज का जर्मन, इटली और जापान का मित्रत्रय सम्मेलन तमाम संसार को सिर से पैर तक हिला रहा है।

मैं निश्चय नहीं तो विश्वास पूर्बक कह सकता हूं कि एक दिन अवश्य संसार व्यापी युद्ध छिड़ेगा और करोड़ों मनुष्यों का अंत तथा

अरबों रुपयों का व्यय होगा। सारा संसार एक बार फिर से दावानल की प्रज्ज्वलित अग्नि में भस्मिभूत होगा। उस वक्त यह आर्य भारत क्या करेगा ? क्या उनको बचाने, सत्य राह बताने और उनके दिलों में प्रेममय शांति के अंकुर बोने का प्रयत्न करेगा ? इसका उत्तर हम अभी की हालत से "हां" के रूप में दे सकते हैं। किन्तु जब तक भावी भारत का विशिष्ट नेता द्वितीय गांधी न होगा, तब तक हम हमारे आर्यत्व की छाप उस समय के दुखित आत्माओं पर नही लगा सकेंगे।

अहिंसा के साम्राज्य ने जो शक्ति भारत में पैदा की है। वह दूसरे राष्ट्रों को चकित कर रही है। हां, एक बात जरूर है कि अभी तक जैसी चाहिए वैसी शक्ति हम अहिंसा-भक्तों में नही आई है। इसीलिए मित्र-त्रय राष्ट्र इसकी कुछ भी कीमत नहीं कर सके। जिस देश के झंडे मे स्वस्तिक का चिह्न हो और वह स्वस्तिक के लिए बद्परस्ती के कार्य करे; यह भावी संसार के लिये अहितकर है। अहिंसा का पैगाम लिए हुए जैन धर्म के अनुयायी आपसी विद्वेष को भी नहीं बुझा सके, तो इनसे ऐसी दुष्कर्मण्यता का अंत कैसे हो सकेगा ?

श्री महाराजजी व्याख्यान फरमाते है कि हमारा अहिंसा-धर्म महा शक्तिवान, परम पवित्र और सबमे बड़ा है। हम सब लोग उनकी लम्बी चौड़ी विवेचनाओं को सुनकर महाराजजी जो कि जैन धर्म के प्रचारक गुरु है, की चर्या भी नही तपास सकते। हमे हमारे धर्म के नेताओं को इतने अभिभावुक बनाने चाहिए कि वे हमारे सेनापति का काम कर सकें और हम उनके अहिंसा धर्म के सच्चे त्यागी सैनिक दल बन सके, थोथे घोड़े चलाने वाले संतों की अपेक्षा राष्ट्र-सेवी अहिंसा की प्रतिकृति गाधी कई अंशों में बड़ा भारी महात्मा है।

मानसिक व्यवहार के दुर्बल प्रचारक अहिंसा धर्म की बागडोर को नहीं संभाल सकते। वे चाहें धड़े बंदी कर पंथ रक्षक या संप्रदाय

पोषक बन सकते हैं। लेकिन वे आत्मोद्धार के साथ समाजोद्धार और इससे बढ़ कर जगदोद्धार करने में कभी सफल नहीं हो सकते।

मैं मानता हूं कि संसार में शांति का प्रबल प्रचारक अहिंसा धर्म (जैन धर्म) ही हो सकता है। उसके सिद्धांतों की गहराई तक पहुँचने वाला इस बात को और भी विश्वास पूर्वक स्वीकार कर सकता है। ऐसे शब्द उच्चारण करने के पूर्व प्रबल शक्ति उनके प्रचारकों में हो, तभी इन शब्दों की कीमत हो सकती है। आज जैन धर्म को कोई नहीं पूछता। सभी एक गांधी के अहिंसा-वाद की श्रेष्ठ नीति पर ही टकटकी लगाये हुए हैं और उसके अनुकूल कार्य करने पर तुले हुए हैं। यह नहीं उन्ही के सूचित मार्ग (अहिंसामय) द्वारा आज का भारत ससारांगण में भव्य भावनाओं और श्रेष्ठ यशोपुञ्ज से सुशोभित हो रहा है। जैन धर्मी चाहे जितनी अपने अहिंसा धर्म की तारीफ करें तथा चाहे जितने पत्र और पोथियां रंग डालें, पर बिना शक्ति के विजय माला उस पर नहीं पड़ सकती।

मेरे मुंह से मैं मेरे स्वजनों में भले तारीफ कर लूं और वे सम्बन्धी या अनुयायी होने के कारण भले ही उस बात की पुष्टि करें; लेकिन वह सब आपसी व्यवहार मात्र के लिए है।

अहिंसा सिद्धांत का प्रचार इतना अधिक बढ़ गया है कि हर एक कार्य में इसी का प्रयोग करने लग गये हैं। इसे ही अहिंसा को धर्म से बदलकर व्यवहार में परिणत करना कहते हैं। यदि इस समय गांधी से भी प्रबल अहिंसा का अवतार प्रकट हो, तो वह अवश्य इस संसार व्यापी भावी युद्ध की आशंका को भी नेस्तनाबूद कर दे।

अहिंसा के शक्ति धरो! जरा विचार करो कि आज की कांग्रेसी सरकार भारत के प्रान्त-प्रान्त में मद्य-पान निषेध कानून बना-कर लोगों में सरल तत्त्वों का प्रवेश करा रही है। मांस आदि राक्षसी

भोजनों को छुड़ा कर सात्विक आहार करने का प्रबल प्रचार कर रही है। हर एक व्यक्ति में सहन शक्ति पैदा करने का दिव्य अहिंसा-मंत्र फूंक रही है। वहां बताइये कि जैन धर्म के अहिंसा प्रचारक क्या कर रहे हैं?

मैं मानता हूं कि कुछ लोगों की कुछ दृष्टि इधर बढ़ी है, लेकिन वह भी अत्यल्प, जिसे नहीं के बराबर कह सकते है। जहां मंदिर, दीक्षा, चतुर्मास और व्यर्थ के आडम्बर मय कार्यों में अपने दिल लगे हुए हैं और उन्हीं में लाखों रुपये पानी की तरह बहा रहे हैं। वहां अहिंसा के प्रचारकों में अहिंसा धर्म के प्रचार करने की भावना कैसे उद्भवित हो सकती है? उनके मान, पूजा-प्रतिष्ठा आदि कार्य अच्छी तरह संपन्न है, फिर वे सत्य अहिंसा धर्म का उपदेश दे ही क्यो? और दे भी तो यथा रूप प्रचार कर अहिंसा मय भावना बढ़ावें ही क्यों?

हम दावा तो करते है कि हम ओसवाल हैं। महाजन हैं। शाह हैं। जैनी है। दया धर्मी है आदि। लेकिन इस दावे के साथ हृदय की और बाहर के लोगों की साक्षी कितनी है? हमको पूर्व पुण्योदय से जैन धर्म मिला है। इसमे यदि आपसी विद्वेष कर अपने जीवन को फना कर देंगे, तो संसार में हमारे लोगों की पूछ ही क्या रहेगी? जबकि हम दिनों-दिन घट रहे है और विद्वेष का दावानल बढ़कर वृद्धि को प्राप्त हो रहा है। इस दशा से धर्म का जीवित रहना दुष्कर हो रहा है।

अहिंसा धर्म के अनुयायियो! यदि आपकी धमनियों में अहिंसा का कुछ भी जोश है, तो उसे प्रकट कर आज के अशांत संसार को प्रेम की संजीवनी शक्ति दो। समय है अभी भी संसार का द्वितीय गांधी बनने का, यदि पुरुषार्थ हो, तो संसार के सन्मुख होकर शीघ्र अहिंसा का प्रचार करो।

—जैन प्रकाश, १० नवम्बर, १९३८ ई०

# अहिंसा का विराट् रूप

हिंसा का प्रतिकार करने के लिए अहिंसा का प्रादुर्भाव हुआ। हिंसा और अहिंसा दोनों शब्द जीवों के लिए व्यावहारिक और जीवन-दायी है। कौन कह सकता है कि एकान्त अहिंसा ही विश्व का संचालन कर सकती है और मुक्तिदायी है। हिंसा के बिना अहिंसा और अहिंसा के बिना हिंसा का कोई महत्त्व नहीं है। हिंसा और अहिंसा दोनों सहचर नहीं, तो विश्व-शान्ति एवं व्यवस्थाहित एक दूसरे के पूरक तो हैं ही।

'जीवो जीवस्य भक्षणम्' और 'जीवो जीवस्य रक्षणम्' दोनों सूक्तियाँ समान बलदायक हैं। 'परस्परोपगृह जीवानाम्' जीवों का परस्पर सहयोग ही धर्म है, अहिंसा है, जीवन व्यवस्था है, इसे मिटाना काल को बुलाना है, संसार में अव्यवस्था और अशान्ति फैलाना है। मानव सब प्राणियों में अधिक बुद्धिशाली और विवेकसम्पन्न है; उसी ने सब से अधिक हिंसा का व्यवहार किया और अहिंसा का प्रसार भी किया।

हम अहिंसा की धर्मपालना में ही स्थापना नहीं मानते। हम तो अहिंसा को नीति, व्यवहार, राजनीति और संस्कृति में भी स्थापित करते हैं और करते आ रहे हैं। हां, कभी अहिंसा की अधिकता होती है, तो कभी हिंसा की अधिकता। अहिंसा की अधिकता में स्नेह और प्रेम तथा शान्ति का वातावरण अधिक होता है और हिंसा की अधिकता

में विद्वेष, युद्ध और अशान्ति अधिक फैल जाती है। जहाँ अहिंसा को जीवन का अभिन्न अंग मानते हैं, वहाँ हिंसा को जीवन का भिन्न अंग नहीं मान सकते।

प्रेम व दया को अहिंसा के अर्थ में लेते हैं। समग्र विश्व में इसका साकार रूप जीवन दर्शन ही होता है। "जीओ और जीने दो तथा जीनेवालों को सहयोग करो"—यही तो दया का रूप है। जहाँ जीओ और जीने दो का सिद्धान्त पालते हैं, वहाँ स्वकीय हिंसा और परकीय हिंसा का सम्मिश्रण होता है और जीने में सहयोग करने से दोनों प्रकार की हिंसा के रहते हुए अहिंसक बनते हैं। इसके बिना दूसरा कोई मार्ग नहीं है। पूर्ण-अहिंसा निष्क्रिय और निश्चित तथा अशरीरी व्यक्ति ही कर सकता है। राग-द्वेष को जीतने वाला 'वीतराग' और कर्म-शत्रुओं को नाश करने वाला 'अरिहन्त' भी साधारण हिंसा के बिना जीवन व्यवहार नहीं चला सकता। जैनियों की दृष्टि अनेकान्त की है, वह पूर्ण दृष्टि है, अतः इस पूर्ण दृष्टि पर अहिंसा का कर्षण और घर्षण ही अहिंसा की कसौटी है। एकान्त अहिंसक प्राणी संसार में जी नहीं सकता।

अनेकान्त ही समन्वय का मूल मन्त्र है। अनेकान्त ही विश्व-दर्शन का आदर्श है। वस्तु का सही रूप अनेकान्त दर्पण में देखा जा सकता है, अतः कहना नहीं होगा कि महावीर के श्रावकों ने नीति के नाम पर बड़े-बड़े नर-संहारक युद्ध किये। अपने गृहीत व्रतों की रक्षा के निमित्त जनमानस का प्रतिकार किया और अपने मन्तव्य पर चलने के लिए व्यवहारशुद्धि और व्यावहारिकता का ह्रास भी किया। क्या ये सब हिंसा के स्थूल रूप नहीं हैं? क्या इसे अहिंसा की नीति में स्थान नहीं दिया जा सकता? महावीर महान् थे। उनकी अहिंसा महान् थी। सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों की रक्षा करने में व्यवहृत थी। वहां तप के महान् मार्ग पर चलने पर शरीर में रहे हुए कीटाणुओं की मृत्यु

को नगण्य समझा जाता था। यही भावना थी कि उस अहिंसक प्राणी की तरफ से कोई दौर्मन्य एव द्वेष उनके साथ नहीं था। अहिंसा और तप की आराधना मे यदि किसी प्रकार की हिसा होती है, तो उज्ज्वल ध्येय के पीछे नगण्य गिनी जाती थी और भावना को ही प्रधानता दी जाती थी। इसीलिए ग्रन्थकार ने कहा कि "परिणामे बन्ध" परिणाम से ही बन्ध होता है। सम्मुख दीखने वाले व्यवहार और अनुसरण का कोई विशेष महत्त्व नही है।

अहिंसा का विराट रूप कण-कण मे व्याप्त है। हवा के जीवाणु अन्य प्राणियो को जीवनदान देते है। पानी के, अग्नि के और पृथ्वी के जीवाणु भी अन्य स्थिर एव चलने-फिरने वाले प्राणियो की जीवन-विभूतियाँ है। जीवन को स्थिर रखने के लिए शरीर मे रहने वाले अनेक प्रकार के कीटाणु और जीवाणु परमोपयोगी होते हैं। वनस्पति के जीव तो खाद्य पदार्थ है ही। अब हम अहिंसा के विराट् रूप को समझने मे देर नही कर सकते कि प्राणी मात्र मे अहिंसा रही हुई है। एक दूसरो को पोषण के भाव रहे हुए है। एक दूसरे को पोषण देते है। त्रस और स्थावर प्राणियो के जीवन का आधार ही हिसा सहित अहिसा है। दुर्गा और मत्स्येश्वर समान रूप से पूजित होते हैं। कण-कण मे व्याप्त अहिंसा, हिंसा से ही विराट् रूप धारण करती है। क्या मानव ने अपने पिड को हिंसा-मिश्रित प्रयोग से नही बनाया है? सूक्ष्म रज और शुक्र जीवाणुओ के सम्मिश्रण एव घर्षण मृत्यु से तथा विशेष शक्तिशील होने के नाते असमर्थ जीवाणुओं का भोग करते हुए, यह जीव पिण्ड मानव रूप मे नजर आता है। माता-पिता के विलासमय जीवन का प्रतीक जीवन पिण्ड है।

क्या शास्त्रकार और परमहस मानव यह कह सकते हैं कि मानव-शरीर पूर्ण अहिंसा की देन है? जो भी मूर्त रूप मे सामने है। वे सभी जीव हिंसा-मिश्रित अहिंसा के परिपालक हैं। अहिंसा को हम

हिंसा में देख सकते हैं। हिंसा में अहिंसा के दर्शन करते हैं। हिंसा और अहिंसा शब्द प्रयोग हैं। जो अहिंसा अथवा पूर्ण विराट् परमात्म रूप के व्यवहार रूप को समझने के लिए हैं। द्विपक्ष वाले पक्षी की तरह पूर्ण जैन बनने के आदर्श प्रतीक हैं।

अहिंसा अहिंसा की बात करने वाले जैन साधु मन, वचन और काया से जीव हिंसा करना नहीं, कराना नहीं और करते हुए को अनुमोदना नहीं; के महाव्रत को पालने में भी हिंसा के पुट के बिना समर्थ नहीं हो सकते। उनका निरवद्य खाना भी सावद्य ढंग से बनकर उनके सामने आता है। अपेय पानी भी हिंसक ढंग से पेय बनकर सामने आता है। वे जितनी भी सफाई करें, निरर्थक है। विशाल दृष्टि वाला उनके तर्क-वितर्क को निरस्त कर देता है। यह वस्तु समझने की है कि कितना भी विवेकशील प्राणी हो और वीतराग महापुरुष हो, जीवन के साधन हिंसा के पुट को लिए हुए ही होते हैं। अतएव यह प्रशस्त है कि भावना-प्रधान अहिंसा व्यवहार्य है और वही पूर्णांश में पालने लायक है।

एक प्राणी की रक्षा करने में दूसरे प्राणी की हिंसा स्वाभाविक है। प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी तरह उसका आलम्बन हो ही जाता है। अहिंसा का विराट् रूप समझने के लिए विश्व का विराट् दर्शन करना होगा। विश्व का विराट् दर्शन सब प्राणियों का रक्षण करने में है। वे अपने स्वभाव से जो जो भोग दे सकते हैं ऐश्वर्य का भोग देवें, यही धर्म है। जीव कभी नष्ट नहीं होता, न कभी मरता या अन्य प्रकार से दूषित होता है। उसके ऐश्वर्य प्राण, शरीर, मन, इन्द्रियादि के सुयोग से सुख और विप्रयोग से दुःख का अनुभव करता है। अनुभव करने में ही हिंसा और अहिंसा का दर्शन होता है। विश्व के विराट् रूप में इस दर्शन का कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

जीवतत्त्व और अजीवतत्त्वों का संक्रमण, परिक्रमण और विक्रमण ही संसार है। वह पूर्ण भी इसी तरह है। इस विश्व की पूर्णता में ही विराट् रूप में अहिंसा का दर्शन होता है। सर्व प्राणियों का उदय ही सर्वोदय रूप पूर्ण अहिंसा है और सर्वोदय ही अहिंसा का विराट् रूप है।

'श्रमण' मासिक

जुलाई १९७०

# धर्म का वास्तविक रूप

संसार में धर्म और धर्म के पीछे होने वाले अत्याचारों, हत्याचारों, पाखडों, युद्धों और प्रदर्शनों का बोलबाला है। मजहब को ही धर्म मानकर चलन वाले मानवों की प्रधानता है। मजहब या पंथ ही आज के धर्म है। धर्म का यह विकृत रूप मानवों को टुकड़ों में बाँट रहा है। भिन्न-भिन्न मज़हब के पृथक्-पृथक् अनुयायी हैं। मज़हबों के विपरीत अन्य मजहब वाले हीनता की और घृणा की दृष्टि से देखे जाते हैं। असली तथ्य इन मुल्ला, मौलवी, पडे, पुजारी, साधु, पादरी एवं प्रवर्तकों ने अपनी मान पूजा और धर्म प्रचार की भूख में डुबो दिया है और धर्म की जगह अभिष्ट कर्म की प्रधानता में धर्म की स्थापना कर अखाड़े, सम्प्रदाय और गिरोह बना लिये हैं। इस तरह के धर्मों की बहुलता और विविधता में मानव समाज विश्रृंखल हो रहा है। असली धर्म का रूप मैं निम्न प्रकार रख कर एक निरपेक्षता का सही मार्ग प्रशस्त करने का प्रयत्न करूंगा।

**धर्म की व्याख्या**

"धार्यते इति धर्मः" जो धारण किया जाता है, वही धर्म है। अपने स्वत्व को वरण करना ही धर्म है "वत्थु सहावो धम्मो" वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। जीव का स्वभाव चेतन है, तो चेतन गुण को प्रकट करना ही धर्म है। पानी का स्वभाव तृप्त करना है और वही तृप्ति का कार्य उसका धर्म है। वृक्ष का स्वभाव छाया व फल, फूल

देना, प्राण वायु देना व लकड़ी का आश्रय देना आदि धर्म है। मानव का भी धर्म "परस्परोपग्रहोजीवानाम्" एक दूसरे को सहयोग करना ही जीवों का धर्म है। धर्म, स्व पर हित कर्ता होता है। इसीलिए

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचन द्वय।
परोपकारं पुण्याय, पापाय परपीडनम्॥

अठारह पुराणों का सार व्यासजी ने दो वचनों में सुना दिया, गुंथ दिया, व्याख्यान कर दिया और कह दिया कि दूसरों का भला करना पुण्य है। इससे आत्मा प्रसन्न एवं पवित्र बनती है; अतः धर्म है और दूसरों को दुःख देना पाप है। हे आत्मा! जैसा तुम अपने लिए चाहती है, वैसा ही दूसरों के साथ व्यवहार कर; यही धर्म का मार्ग है। जो तुम्हें प्यारा है, वह दूसरों को भी प्यारा लगता है। जो तुमको खारा या खराब लगता है, वही दूसरों पर भी असर करता है। अतः अपना हित जिसमें होता है, वैसा ही कार्य पराये हित में करो। ऐसा धर्म का पथ है।

सब प्राणी जीना चाहते हैं, कोई मरना पसंद नहीं करते। सब प्राणी सुख चाहते हैं, दुःख देखना कोई नहीं चाहता; अतः हे मानव! तू जीने में सहयोग कर और दूसरे प्राणी को सुख दे, यही शाश्वत धर्म है। यही धर्म की सही व्याख्या है।

"यतोऽभ्युदयनिः श्रेयस् सिद्धिः सः धर्मः." जो आत्मा की उन्नति, कल्याण और सिद्धि के कार्य हैं, वे ही धर्म हैं। जिस कार्य या पथानुगमन से आत्मा का उदय हो और कल्याण में सफलता मिले। आत्मा सच्चिदानन्द मय बन जाय। पूर्ण होकर शाश्वत रूप को प्राप्त करले, वही मार्ग धर्म है। धर्म की यह प्रशस्त व्याख्या है और भी स्पष्ट निम्न प्रकार है :—

से बेमि जे अईया, जेय पडुप्पन्ना, जेय आगमिस्सा अरहंता

भगवन्तो ते सव्वे एवमाइक्खंति एवं भासंति एवं पण्णाविंति एवं पण्णाविंती परूविंती :—

सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघित्तव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा एस धम्मे सुद्धे, नियए, सासए, समिच्चलोगं खेयन्तेहिं पवेइए, तं जहा उट्ठिएसु वा अनुट्ठिएसु वा उवरयदंडेसु वा अणुवरय दंडेसु वा, सोवहिएसु वा अणुवहिएसु वा, संजोगरएसु वा, असंजोगरएसु वा तच्चं चेयं, तहा चेयं, अस्सि चेयं, पवुच्चइ ।

**अर्थ :—**

संसार में जितने अरिहन्त हुए हैं, जितने वर्तमान हैं और जितने होंगे; सभी का यही कहना है, यही उपदेश है, यहीं प्रज्ञप्ति है और यही प्ररूपणा (सिद्धान्त) है कि :—

किसी प्राणी, भूत, जीव और सत्व को न पीटना चाहिए, न सताना चाहिए, न पकड़ना चाहिए, न कष्ट पहुंचाना चाहिए और न मारना चाहिए—यह शुद्ध है, नित्य एवं शाश्वत धर्म है। आत्मज्ञ महर्षियों ने संसार के स्वरूप को अच्छी तरह जानकर यह बताया है। यह उपदेश सभी के लिए है। चाहे व धर्माचरण में लीन हो या लीन नहीं हो। धर्मश्रवण करता हो या नहीं करता हो। जीव हिंसा को छोड़ी हो या नहीं छोड़ी हो। गृहस्थ हो या साधु हो। योगी हो या भोगी हो—यही धर्म सत्य है। यही तथ्य है। यही शास्त्रों में प्रतिपादित है।

**अहिंसा परमोधर्मः"** अहिंसा—किसी जीव को कष्ट नहीं देना और सहयोग करना यही सबसे बड़ा धर्म है। प्रेम ही धर्म है और सहयोग ही कर्म है।

**धर्म का मूल**

संसार के प्राणी त्राहि-त्राहि की पुकार करे, योगी बैठा-बैठा

ध्यान करे। लोक में आग लगी हो और मुनि बैठा-बैठा जाप करे। दुनिया आपस में लड़ रही हो और तपस्वी तपस्या में लीन हो—ये जो धर्म के भिन्न-भिन्न मोक्षदायक मार्ग हैं, उनकी उत्पत्ति स्वहित से होती है—स्वार्थ से होती है। लेकिन धर्म का मूल व्यवस्था और शान्ति में रहा हुआ है। अव्यवस्था में जीना दुष्कर और अशांति में रहना दुर्लभ है।

जीओ, जीने दो और जीते रहने में सहयोग करो—यह धर्म का मूल तथा व्यवस्था और शांति का मूल मंत्र है।

परोपकार, अहिंसा, सत्य, अचौर्य और संयम (समता) ये धर्म के पाये हैं। प्रेम और सहकार की वृत्ति का उद्‌भव इन्हीं से होता है तथा व्यवस्था और शांति इन्ही से प्राप्त होती है। जहाँ व्यवस्था नहीं और शांति नहीं; वहाँ अधर्म है। धर्म वही है—जो संसार के प्राणियों को जीने की सुख-सुविधा में पूर्ण व्यवस्था दे और शांति से जीवन-यापन का मार्ग प्रशस्त करे।

## धर्म की उत्पत्ति

पृथ्वी जैसे अनन्त ब्रह्माण्डों में जीव और जड़ ऐसे दो तत्त्व शाश्वत हैं। दोनों के मिश्रण से संसार में उत्पत्ति व विनाश के चक्र चलते है। परिवर्तन शब्द का प्रयोग इन दोनों तत्त्वों से ही हुआ है। दुनिया के जितने भी सत् द्रव्य हैं वे सभी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त हैं। माया और ब्रह्म एवं प्रकृति और पुरुष का सम्मिलित व्यापार ही सृष्टि है, संसार है। मिलना और बिछुड़ना, बनना और बिगड़ना, सर्जना और विसर्जना, निर्माण और प्रलय—ये सभी संसार की गति के रूप हैं।

जब तक प्राणी वर्गों का संचरण और संजीवन चलता रहता है, तब तक उनकी सुव्यवस्था से उन्हें लाभान्वित होना ही चाहिए और शांति द्वारा अपना जीवन-यापन करना चाहिए। जब तब प्राणी

संग्रह बुद्धि में अत्यधिक लीन होता है, तब अव्यवस्था और अशांति पैदा होती है। अशांति और अव्यवस्था से क्लेश की उत्पत्ति होकर जीना और निबहना दुर्लभ हो जाता है। अतः एक दूसरे को सहयोग देने की भावना पैदा होती है—इसी सहयोग की भावना को परोपकार वृत्ति कहते हैं—यही धर्म की उत्पत्ति का आधार है। एक प्राणी जीना चाहता है; लेकिन सबकी सुख सुविधा और साधन छीन कर उपभोग करना चाहता है, वहीं अव्यवस्था पैदा होकर अशांति हो जाती है और दुर्भावना का प्रसार होकर एक दूसरे का जीना दूभर हो जाता है।

संसार की व्यवस्था और शांति बनाये रखने के लिए विज्ञजनों और महापुरुषों ने संयम से रहने का मार्ग प्रशस्त किया। अधिक संग्रह नहीं करना, दूसरे के अधिकार की वस्तु नहीं लेना, सत्य बोलना और ईमानदारी से बर्ताव करना, शीलवान बनना और सदाचारी रहना और किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुंचाना—ये मार्ग बतलाये। ये ही मार्ग आगे जाकर धर्म कहलाये। उपरोक्त मार्गों की गवेषणा सहयोग की भावना से हुई और शांति तथा व्यवस्था को आवश्यक समझने पर इस ओर गति हुई। धर्म उत्पत्ति का मूल विज्ञपुरुषों द्वारा सुखद जीवन-यापन करने की कला रूप में प्रशस्त हुआ। अपना धन, तन और मन छीनने, क्लेशित करने या दुरुपयोग करने से अपनी आत्मा दुःखी होती है। इसी तरह यदि हम स्वयं इस तरह का प्रयोग दूसरों के साथ करें, तो उसको भी यही अनुभव होगा। ऐसा प्राथमिक ज्ञान होना, धर्म की उत्पत्ति का मूल कारण है। धर्म की भूमिका या नींव दूसरे प्राणियों के साथ मिलकर संयम से रहना और दुःख सुख में हाथ बटाना ही है। पाँचों यम, पाँचों व्रत और पंचशील धर्म की नींव हैं। समन्वय और अनेकान्त धर्म की नींव को मजबूत करने वाली और पकड़कर टिकाने वाली शिलाएँ हैं।

### धर्म का विकृत रूप

आज संसार में जो धर्म के नानाविध रूप नजर आ रहे हैं, वे

सभी धर्मों के विकृत रूप हैं। ईसाई धर्म, मुस्लिम धर्म, जरथुस्त धर्म, हिन्दू धर्म, पारसी धर्म, जैन धर्म, सिख धर्म, बौद्ध धर्म आदि स्वत्व को भूल कर एक-एक मानव समाज के टुकडे का पोषण करने वाले धर्म बन गये हैं। जो अपने आपको सही मार्ग रूप में देखते हैं, समझते हैं ईश्वरीय देन मानते हैं। सभी अपने-अपने (धर्म कहो या मजहब) धर्म को मानव मात्र का उपकारक हितकर्ता मानकर प्रचार करते हैं और प्रचार मे दूसरे धर्मों की निंदा और धर्मानुयायियो के साथ बुरा व्यवहार करते हैं। यहां तक कि अपने अनुयायी बनाने में स्वार्थ के मीठे घूंट और मृत्यु की विषैली मार भी करते हैं। जबरदस्ती अपने धर्म के अनुयायी बनाते हैं और खुशिया मनाते हैं। दूसरे धर्म के अनुयायियों के साथ दुर्व्यवहार करने मे नही हिचकते। इसलिए मेरी दृष्टि में आज के सभी धर्म, धर्म नही; अधर्म हैं। धर्म के विकृत रूप हैं, मानव के हित के घातक हैं। धर्म, एक पाखण्ड, एक कर्म, एक पंथ, एक ईकाई, एक अखाडा, एक वर्ग और एक संप्रदाय बन गया है।

## धर्म का सही रूप

सही माने मे धर्म एक है और वह सब के लिए एकसा है। माला फेरना, सामायिक करना, नवाज पढ़ना, सध्या करना, प्रार्थना करना, यज्ञ करना आदि कर्म हैं। अपने-अपने प्रवर्तकों द्वारा अनुयायियों के चलाने के कर्म काण्ड हैं। धर्म एक दूसरे को सहयोग करने वाला और प्रेम, व्यवस्था और शाति का प्रचार करने वाला है। जिसको सभी धर्मों ने माना है। जो आचरण में आवे। अपने को और दूसरों को शांति लाभ दे तथा सहयोगी बने, वही धर्म होता है। धर्म के नियम शाश्वत हैं। जो सभी क्षेत्रों, सभी समयों तथा सभी मानवों के लिए सरीखे हैं। जैसे :— प्रेम करना, किसी जीव को नहीं सताना, चोरी नहीं करना, संयम रखना, संग्रह नहीं करना आदि। इसके लिए सामान्य स्तर के जुदे-जुदे व्यवहार हैं :—नमन करना, विनय रखना, अदब से बोलना, विवेक

से बोलना और कार्य करना, समानता का व्यवहार करना, ईमानदारी रखना, किये का उपकार मानना, धन का दान करना, दुखियों का दुःख दूर करना, गरीबों को सहारा देना, बिना कारण किसी को नहीं सताना, डाका नहीं डालना, शिकार नही खेलना, दूसरे की वस्तु बिना पूछे नहीं लेना, दिल नहीं दुखाना, ज्ञान प्राप्त करना और ज्ञान में मदद करना आदि कार्य धर्म हैं, इनकी प्रवृत्ति सभी मानवों के लिए मान्य है। धर्म को समझना और कर्म को करना, यही मानव जन्म की सफलता है।

अपनी-अपनी अलग मान्यता को धर्म समझना और मानव समाज में उस मान्यता का प्रचार, लोभ से, आकर्षण से या दबाव से करना धर्म प्रचार नहीं है। मानवों के हित करने वाले गुणों का विकास करना और प्रचार करना ही सही माने में धर्म प्रचार करना है।

अरबों ईसाई बन जाय, अरबों बौद्ध बन जायं और अरबों मुसलमान बन जायं—इसमें कोई विशेषता नहीं। सबल वर्ग बढ़ता जाता है; लेकिन मानविक गुणों का ह्रास होता जाता है। मानवी गुणों का विकास ही धर्म की उन्नति है।

वसुमती 'मासिक'

# धर्म का वर्तमान रूप

"धर्मस्य तत्वं निहीतं गुहायाम्, महाजनो येन गतः सः पन्थाः" आर्य पुरुषों ने यह पद्यावली बनाई है, इसमें तथ्य है। जगत् में सैंकड़ों धर्म हैं और उनके मार्ग भी भिन्न २ हैं। धर्मों के प्रचारक सदैव अपने मार्ग को सबसे अच्छा, जगत् के लिये कल्याणकारी और मुक्तिदाता बताते हैं। अपने धर्म को सारी दुनिया में फैलाने के प्रलोभन से सेवा और राजनीति को प्रश्रय देते हैं। बड़े २ प्रचारक तैयार किये जाते हैं। करोड़ों रुपये खर्च किये जाते हैं। जन-समूह का कुछ भाग उसका अनुयायी बनता है, तो बड़ा आनन्द अनुभव करते हैं।

कोई प्रचारक अपने धर्म को भगवान् के साक्षात् मुख से उद्घोषित होने की छाप लगाते है, तो कई भगवान् के पुत्र का कहा हुआ जाहिर करते हैं। बहुत सारे अपने धर्मग्रन्थों को अमानवीय-अपौरुषेय बतला कर श्रेष्ठता साबित करते हैं, इन सब में अहंत्व समाया हुआ है। और यह अहंत्व मानव समाज को टुकड़ों में बांट चुका है। आज दिन तक धर्म का एक रूप और अखण्ड मानवता के रक्षक के रूप में कोई सामने नहीं आया है।

धर्म के नाम पर युद्ध चलते हैं, मानवों की हत्या की जाती है। एक धर्मावलम्बी दूसरे को घृणित दृष्टि से देखता है। सभी धर्म प्रचारक कभी एक आवाज में बोल नहीं सकते और सभी एक तरह का प्रचार कर नहीं सकते।

तब क्या विभिन्न धर्म विभिन्न २ मोक्ष, स्वर्ग और नरक के पट्टे दिया करते हैं या मानवों को इनके नाम से डराते या संतोष देते हैं अथवा अपनी ठेकेदारियां चलाते हैं। मानव और समझदार मानव इन तरह-तरह के धर्मों को देखकर स्तंभित एवं चकित हो जाता है, तब कहीं आकर बड़े आदमी जिस मार्ग से जाते हैं, वही मार्ग अपनाता है। बड़े आदमी भी इन्हीं धर्मों के किसी न किसी बाड़े के निवासी होते ही हैं।

महा आश्चर्य है कि धर्म के प्रवर्तक आचार्य एवं प्रचारक सामान्य जन-समूह को अन्धकार में डालते हुए अपने और अपने धर्म के भक्त बनाते हैं और अन्धभक्ति में फंसे हुए मानव (जैसा रास्ता वे बताते हैं) उनको सही मानते हुए गमन करते हैं, उस मार्ग में वे तन, मन और धन को अर्पण करते हैं, भूखे मरते हैं, अन्य कष्ट झेलते हैं, पौष्टिक माल खाकर मौज भी करते हैं। स्वर्ग और नरक के प्रलोभन और डर वास्तविक रूप धारण कर लेते हैं। यहां तक कि इस मानव देह से अपनी उम्र में कोई विशेष रक्षणीय कार्य करने की सामर्थ्य रखते हुए भी नहीं कर पाते। अपने शरीर, मस्तिष्क और धनादि को अपनी सीमित धर्म की परिपालना में समाप्त कर, इस लोक की लीला को समाप्त कर देते हैं। ये धर्म के रूढ़ रूप वर्तमान में विज्ञान की दिव्य चकाचौंध में भी बराबर गति करते चले जा रहे हैं।

धर्म की उत्पत्ति शांति और व्यवस्था हित हुई है, वह चाहे स्वर्ग नरक के लाभ और दंड रूप में मानी जाकर प्रसारित की गई हो। धर्म की पैदाइश प्राणी समाज में हुई है और उपयोग भी उसी के हित में है। जो धर्म अशांति और अव्यवस्था फैलावे, दुराग्रह सिखावे, एक दूसरे को भिन्न करे और मानवता का ह्रास करे, वह धर्म नहीं—अधर्म है। ऐसे धर्म मानवता के लिए कलंक है—अभिशाप है।

धर्म का सीधा अर्थ परस्पर के सहयोग में समाया हुआ है। 'परस्परोपग्रहजीवानाम्' तत्वार्थ का सूत्र है। उसे भूल कर धर्म को मोक्षदायी,

स्वर्ग और नरक का देने वाला मानते हैं। आज के मानवों को सही मार्ग नहीं बताने से वह भिन्न-भिन्न टुकड़ों में बंट गया है। प्राणी मात्र एक दूसरे के ऊपर आश्रित हैं। यदि एक दूसरे का असहयोग किया जाय, तो जीना दूभर हो जाय। धर्म का दूसरा अर्थ "वत्थु सहावो धम्मो" अर्थात् वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा है। "अतोभ्युदय निश्रेयस्सिद्धि स: धर्म" अर्थात् आत्मा की उन्नति का और कल्याणकारी सिद्धि का जो दातार है, वही धर्म है।

धर्म की जितनी पुरानी और विभिन्न २ धर्मावलम्बियों की व्याख्याए हैं, उनमे साम्य अवश्य है। इस साम्य मे भी असमानता पद-पद पर टपकती है। धर्म मुक्ति का दाता माना है। पुराने आध्यात्मवादियों ने धर्म का एकान्त अर्थ आत्मा की परमात्मा में लीन होने वाली गति या सिद्धि-मुक्ति माना है। आत्मा की पूर्णता ही धर्म की पूर्णता है। पूर्णता की ओर बढ़ने का मार्ग धर्माचरण है। "धमो मंगल मुक्किट्ठम् अहिंसा संजमो तवो"—अहिंसा संयम और तप ये धर्म, उत्कृष्ट मंगल हैं और इसकी साधना को प्रेम, मर्यादित जीवन और बाह्य आभ्यंतर तप माना है।

विवेक जिसे सद्ज्ञान अथवा सद् असद् का भान कराने वाली बुद्धि भी कहते है, धर्म-प्रहरी माना जाता है। संसार में यदि यह हो, तो सभी कार्यों और व्यापारों में धर्म का प्रवाह शुद्ध रूप से दृष्टिगत होगा और यदि यह नहीं हुआ तो धर्म और अधर्म के जंजाल में फंसा रहेगा। विवेक महापुरुषो से या महाजनों के चलने वाले, मार्गों से मिलता है। उनके अनुभवों को ही विवेक धारण करता है। विवेकवान व्यक्ति कभी दुनिया में अशांति और अव्यवस्था पैदा नही करेगा। वह दुनिया को शान्ति से जीवन यापन में सहयोग करेगा।

संसार में कई ऐसे पंथ हैं, जो एकान्त तपश्चर्या एवं संयम में ही धर्म मानते हैं। उसमें भी अपने अनुयायियों के मार्ग को मुक्ति दाता

मानते हैं। उपकार, दया (करुणा) दान और सहयोग को पूर्ण धर्म का रास्ता नहीं मानते हैं। सुपात्रता की विशुद्धता और विशेषता को प्रधानता देते हैं। अपने आपकी दया, अपने संयती को दान और अपने मार्गी को सहयोग, धर्माचार स्थापते हैं। वेदांत और जैन दर्शनी सम्पूर्ण कर्मों के क्षय को मोक्ष मानते हैं। ऐसे मुक्ति दिलाने वाले एकांत मार्ग को धर्म बतलाते हैं। जीवों को सहयोग और उनका रक्षण लौकिक धर्म बताते हैं।

कई मतावलम्बी धर्म के दो रूप बताते हैं—लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक धर्म, कर्तव्य बुद्धि से करे, यह मुक्ति दाता नहीं—अपितु भव भ्रमण कराने वाला है और लोकोत्तर धर्म मुक्ति दाता है, आत्मा से परमात्मा बनाने वाला है। मुझे समझ में नहीं आता कि उनके धर्म ग्रन्थों में स्पष्ट लिखा है कि—जैसे अपनी आत्मा को अनुकूल साधन और व्यवहार मिलने से सुख का अनुभव होता है और प्रतिकूल साधन और व्यवहार से दु.ख का बोध होता है, वैसा ही दूसरे प्राणियों को होता है; इसलिए किसी दूसरे प्राणियों के साथ ऐसा व्यवहार न करो न ऐसे साधन जुटाओ, जिससे उसको दुःख का अनुभव हो। अपनी आत्मा को दुःख विपरीत और सुख अनुकूल लगता है, वैसा ही दूसरी आत्माएं अनुभव करती हैं।

ऐसा समझ किसी जीव को दुःख न दो, सताओ मत, किलामण न पहुंचाओ और प्राणों से अलग न करो; यही सनातन एवं शाश्वत धर्म है। सुख के साधन और सुख के व्यवहार को सहयोग मय अधर्म मानना नितांत भूल है। अनन्त संसार बढ़ाने का कारण मानने वाले संसार को धोखा देते हैं।

मुझे परम आश्चर्य होता है कि कई धर्म प्रचारक, प्रवर्तक और संत कहलाने वाले गृहस्थियों के अन्न, वस्त्र व अन्य साधनों पर जीते हैं और जीवन यापन करते हैं, लेकिन अपने से गृहस्थियों को महान्

पतित मानते हैं। वे स्वयं को पांच यम या पांच महाव्रत को धारण करने वाले घोषित करते हैं और तीन करण, तीन योग के त्यागी बताते हुए उनके निमित्त जितना खर्च किया जाय, उसको धर्म बताते हैं और दूसरों के निमित्त अथवा दूसरी सम्प्रदाय के संतों के निमित्त अन्न या दूसरे साधन देने को अधर्म अथवा लौकिक धर्म बताते हैं। ऐसे धर्म प्रचार सैंकड़ों वर्षों से अध्यात्म साधना का कार्य चालू रखते हुए भी दुनिया को कोई आध्यात्म ज्ञान की सिद्धि का एक भी आदर्श उपस्थित नहीं कर सके हैं। भाषण देना और अपने यश के पीछे समयानुसार धर्म का रूप बदल कर प्रचार करना आज का धंधा-सा हो गया है।

जिनके प्रचार-प्रसार से मानव मानवता न पा सका हो, एक ही धर्म के विविध सम्प्रदाय एक न हो सकते हों, अनेकान्त का और अहिंसा का नारा देने वाला सन्त वर्ग अपने पंथ को ही एक न कर सका हो, वह क्या धर्म प्रचार करेगा ? धर्म के तथ्य को क्या समझेगा ? महान् तीर्थंकर एवं धर्म प्रवर्तकों के नाम पर रोजी चलाने वाले धर्म के मूल्यों को वर्तमान युग में समाप्त करते जा रहे हैं। जो आरम्भ और परिग्रह स्वयं दूर न कर पाते हों, वे देशव्रती गृहस्थों के आरम्भ और परिग्रह को हेय कहने वाले पाखण्डी है।

धर्म के रूप को भुला देने वाले ये धर्म प्रचारक सीधा खाने मे धर्म मान रहे हैं। वे भूल गये हैं कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार धर्म के मानदण्ड बदल जाते हैं, धर्म के शाश्वत रूप में कोई फर्क नहीं आता है। समय आ गया है, खा पीकर मस्ती से जीनेवाले धर्म प्रचारकों को दुनिया निरादृत कर देगी।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का सही रूप मानव जीवन में नहीं उतार कर इससे होने वाले भावी जन्म के प्रभावों को बताने वालों का अब समय समाप्त होने वाला है। सही धर्म के

आंगण में आनन्द का अनुभव नहीं कराने वाले तथा स्वर्ग का भावी जीवन का लोभ बताने वाले शीघ्र जगत् की दृष्टि से गिरने वाले हैं।

आज जगत् मे और जगत् के जीवन में प्रेम और सहकार की भूमिका निभानी है। सतों और धर्म प्रचारकों को चाहिये कि भूत भविष्य के कहानी किस्से और परिणामों के डर के प्रभावों से धर्म प्रचार करना छोड़कर अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह से आज का जीवन कितना सुखी हो सकता है, जगत् में कितनी शांति और व्यवस्था रह सकती है; यह बात जगत् के सामने प्रचलित करें। अपना सच्चा और दूसरों का मिथ्या यह प्रचार बन्द कर दें। त्यागी और भोगी का भेद मिटा दें। नैतिक स्तर को ऊंचा उठाने के लिए एक दूसरे को सहयोग करने में धर्म की स्थापना एवं प्रचार करे। दुखी, अभाव से पीड़ित और मरते हुए प्राणी एव मानवों की रक्षा करने में ही सच्चा धर्म है। परोपकार में ही मुक्ति है। समाज साधना में ही सिद्धि है। यही धर्म का वर्तमान वैज्ञानिक रूप है, जिसे प्रचारित किया जावे।

—वसुमती मासिक

---

# जैन-धर्म का विराट् रूप : एक नई दृष्टि

जिन जितेन्द्रिय-महान् पुरुषों को, महामानवों को, महात्माओं को और पूर्णात्माओं को कहते हैं और उनके अनुयायी 'जैन' कहलाते हैं। उनका मान्य धर्म "जैन-धर्म" कहलाता है।

कितना छोटा दायरा बना दिया है जैन-धर्म का, जीवन धर्म का और मानव धर्म का। मुझे बार-बार हृदय में महान् पीड़ा होती है कि हम जैनी कहलावें सो तो ठीक है, यथार्थ है; लेकिन विश्वमय जिन धर्म को हम हमारा ही धर्म कहें, यह कितना उपहासास्पद है। जिनों ने—तीर्थंकरों ने धर्म की कोई बाड़ाबन्दी नहीं की और उन्होंने अपने अनुयायियों को 'जैनी' या 'जैनी-धर्मी' शब्द कहकर भी नहीं पुकारा। महदाश्चर्य है कि तीर्थंकर जैसी महान् विभूति ने हमें बार-बार 'देवाणुप्पिया', 'समणा', 'निगण्ठा' आदि उपयुक्त शब्दों से पुकारा है।

हम तीर्थंकरों के तीर्थ एव संघरूप में वर्तमान हैं। तीर्थ—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका हैं। संघ में इनके अतिरिक्त भी सामान्य नियमों के पालक या सम्यक्त्व-लाभ वाले मानव सम्मिलित हैं। संघ महान् है, सूर्य है और सब के लिये वंदनीय है। तीर्थ, तारणहार है। दोनों का संगम, संघ-तीर्थ बन जाता है। यही जिनों का बिना

सम्प्रदाय या बाडाबंदी का महान् धर्म धारक और प्रचारक, मानव कल्याण का प्रेरक और मानव-धर्म का उद्धारक संगठन है।

जिन-धर्म, मानव-धर्म है। भूत, वर्तमान और भविष्य में भी कायम है। विश्व का अनन्त ब्रह्माण्ड, जहां मानव रहता है अथवा जीवों का अस्तित्व है और चेतन की विभूति है; धर्ममय है। सह-अस्तित्व, सहकार और सहयोगभाव जहां वर्तमान हैं, वहां जिन-धर्म है। 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' जीवों का धर्म परस्पर सहयोग करना है और यही जिन धर्म है। जहां-जहां जीव हैं, वहां-वहां जिन धर्म है।

अनन्त पृथ्वी पिंडों, ग्रहों, नक्षत्रों, तारों और शून्य लोकाकाशों में जिन-धर्म व्याप्त है। एक दूसरे के सहयोग से दुनिया चल रही है। बिना सहयोग, प्रेम, अहिंसा और उपकार के, जीवन और जीवन को ढकेलने वाला समाज जिन्दा नहीं रह सकता है। त्रस और स्थावर जीवनिकायों में भी धर्म का अस्तित्व है। अग्नि, पानी, हवा, पृथ्वी और वनस्पति स्वयं में और उनके आश्रित त्रसों में तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं तिर्यन्च तथा मानवों में भी धर्म का अस्तित्व है।

बिना धर्म के कोई भी प्राणी जन्म नहीं ले सकता, वृद्धि नही पा सकता, जीवनयापन नहीं कर सकता। अतएव यथार्थ वस्तु—'सर्व जीव प्रियायु हैं, सर्व जीव जीना चाहते हैं, सर्व जीवों के अपने-अपने प्राण (उन्हें) प्रिय हैं—ऐसा समझ किसी भी प्राणी को न सताओ, न दुःख दो और न प्राणों से विरत करो। यही धर्म सनातन और शाश्वत है।' यह वीरवाणी है, यह जिनवाणी है। अहिंसा, प्रेम और सहयोग उस व्याख्या को उद्घोषित करने वाले शब्द हैं। दया उसी का नाम है। उपग्रह उसे ही कहते हैं। माता की ममता और पिता का

प्रेम उसी स्निग्ध धारा का एक प्रवाह है। क्या मानवों के अलावा अन्य प्राणियों में इस तरह की प्रेम भावना, सहयोग की वृत्ति तथा सहजीवन की वृत्ति नहीं है ? फिर हम क्यों जिन-धर्म को अपने तुच्छ स्वार्थवश संकीर्ण दायरे में बांधे हुए हैं ? यह एक सही प्रश्न है। इसका उत्तर सम्प्रदायवादी नहीं दे सकते। आज के दिगम्बर, श्वेताम्बर या जैनी नहीं दे सकते।

मैं कहता हूं—जिन-धर्म अनेकान्त सिद्धान्त का प्रदाता (जन्मदाता) है। और समन्वय मार्ग का सृष्टा है, फिर हमारे मानव समाज में इसका अस्तित्व क्यों नहीं स्वीकारते ? विश्व के भिन्न-भिन्न धर्मों, पंथों और क्षेत्रों के रीतिरिवाजों तथा संस्कारों में जो-जो सहयोग की भावनाएं और त्याग की वृत्तियां विद्यमान हैं, उन्हें हम विशाल रूप में क्यो नहीं स्वीकार सकते कि वे भी सधाचार के अंग है।

महावीर के दर्शन मे अणुव्रत (देशव्रत) जैसा छोटा संकल्प रखने वाला भी संघ का अनुयायी बनने तथा महान् प्रेम देशना में विश्वास रखने वाला भी संघ का अंग बनने का पात्र है—यह महावीर का उद्घोष है। तो क्या इसमे ईसाई, बौद्ध, हिन्दू, मुसलमान या अन्य मजहब के अनुयायी हमारे विशाल संघ में सम्मिलित नहीं माने जा सकते ? उनमें भी प्रेम की वृत्तियां हैं, सहयोग की भावनाएं हैं, किन्हीं अंशों में त्याग की मात्राएं है। भयंकर से भयंकर राक्षस वृत्तिवाला अथवा मांसाहारी मानव भी अपने हृदय में दया, प्रेम, सहयोग और क्षमा का अंश रखता ही है।

वीर ने घृणा करने का उपदेश नहीं दिया, अपितु अपनाने का और दूसरों में भी स्वत्व के दर्शन करने का अनुगमन करना सिखाया। क्या उनके अनुयायी कहलाने वाले अनेकान्तमती एवं समन्वयमार्गी मानव-मानव में भेद वृत्ति का प्रचार करेंगे ? क्या अब भी यह मानेंगे

कि हम ही जैन हैं और हमारा धर्म ही जैन-धर्म है ? क्या वे इस तरह की मान्यता और गिनती से विश्वमय जिन धर्म को लाखों-करोड़ों अरबों की मानव जाति के समुदाय में संकीर्ण नहीं बना रहे हैं ?

'जैन-धर्म विश्व धर्म बन सकता है'—यह उद्घोष आज का घमण्डी जैनी, जैन साधु और जैन विद्वान् करता है, लेकिन वह यह नहीं समझता कि जिनों ने पहले ही इस धर्म को विश्व में देखा है और विश्वमय माना है। आपको उसके लिए तैयार करने के लिए तीर्थ रचना की, न कि तीर्थ में बांध कर संघ को संकीर्ण बनाने का कार्य किया। सब में स्वत्व को देखो और सर्वमय बन जाओ। विश्व का विराट् रूप ही जैन-धर्म का विराट् रूप है। सर्व जीवों का उदय ही सर्वोदय है और सर्वोदय ही सच्चिदानन्द बन जाने का प्रशस्त मार्ग है।

मेरी समझ में तो यह आता है कि स्वयं को जैनी कहने का अभिमान करने वाले 'कूपमण्डूक' हैं। उन्होंने विशाल और शाश्वत जैन-धर्म का, जिन-धर्म का दर्शन ही नहीं किया, अनेकान्त सिद्धान्त में विश्वास नहीं किया और समन्वय मार्ग का अनुसरण नहीं किया। उनको सम्प्रदायें प्यारी है। उन्हें जैन शब्द का मोह है, जब तक यह मोह है, धर्म के विराट रूप का दर्शन नहीं कर पायेंगे।

बार-बार प्रवचनो, भाषणों और लेखों द्वारा भले ही उद्घोषणा कर दो कि जैन-धर्म विश्वधर्म है; लेकिन उन प्रवचनकारों, भाषकों और लेखकों को ज्ञात होना चाहिए कि जिनों के धर्म सदा विश्वमय ही होते हैं। विश्व धर्म ही होते हैं। न ये प्रचारक, न ये भाषक और न ये लेखक विश्व धर्म बनाने की शक्ति रखते हैं और न इनके इस तरह के प्रवर्तन से वह विश्व धर्म बन सकता है।

जिनके विश्वमय चक्षु है और जिनका ज्ञान विश्वमय है, वे ही इस धर्म को विश्व में व्याप्त देख सकते हैं और विश्वमय धर्म को

समझ सकते हैं। धर्म प्रचार के पाखण्ड का खण्डन कर आओ इस विशाल प्रांगण में, वीर के सच्चे अनुयायी बनने का दावा करते हो, तो छोड़ो इस जैन-धर्म के साम्प्रदायिक व्यामोह को और सब मानवों में अनेकान्तमय अनन्त धर्मरश्मि वाले सूर्य के प्रकाश से सारे विश्व में व्याप्त जिन-धर्म को प्रकाशित कर दो। जिन-धर्म महान् है, जीवन धर्म है और सभी प्राणियों में विद्यमान है। सभी ब्रह्माण्डों में वर्तमान है। विश्व के सभी मानव इसके अनुयायी हैं। विश्व के सभी चेतन तत्व इसके पुजारी हैं। अहो ! क्या ही सुन्दर, इस विश्वमय विश्व धर्म की लीलाएं प्रसार पा रही है। इसका दर्शन, स्पर्शन और ज्ञान ही विराट रूप है। मैं इसका अनुभव कर अनन्त आनन्द में गोते लगा रहा हूं।

श्री अमर भारती
दिसम्बर १९७२

# श्रमण-धर्म

जैन धर्म का नाम विश्व मे विख्यात है। यह एक साम्प्रदायिक नाम से पहिचाना जाता है। इसकी उत्पत्ति 'जिन' 'वीतराग'—इन्द्रियों और मन को जीतने वाले शब्द से हुई। 'जिन' के अनुयायी जैन और उनकी मान्यता वाला पथ 'जैन धर्म' नाम से प्रशस्त हुआ। आज हम जैनी कहलाते हैं और जिनानुयायी होने का दावा करते हैं; वास्तव में भगवान् महावीर ने जैन धर्म के नाम से कोई मार्ग नहीं बताया। महावीर ने भगवान् ऋषभदेव-आदिनाथ के समय मे प्रचलित श्रमण परंपरा का ही विस्तार किया। वे स्वय 'जिन' थे—तीर्थंकर थे। अतः उनके बताये हुए मार्ग को कालान्तर मे 'जैन धर्म' के नाम से पुकारा जाने लगा।

शास्त्रों में जहां-तहां "समणो माहणो" शब्दों का प्रयोग होता हुआ दिखाई देता है। श्रमण—ब्राह्मण व्यवहृत भाषा के रूप हैं। निगंठ शब्द का भी प्रयोग होता हुआ सूत्रों में पढ़ा जाता है। अतएव 'निगंठ धर्म' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। निगठ शब्द का अर्थ ग्रन्थि रहित, ममता रहित, परिग्रह रहित, मूर्च्छा रहित अर्थात् वीतराग अथवा छद्मस्थ श्रमण है। श्रमण धर्म और निर्ग्रन्थ धर्म ही पुराने समय में प्रचलित महावीर भाषित मार्ग कहलाता था।

महावीर ने धर्म देशना दी। वह सारे विश्व के समस्त प्राणियों के लिए समान हितकारी थी। विश्व के त्रस और स्थावर सभी प्राणियों

में समत्व का—समान अस्तित्व का उपदेश दिया। सबको जीने का अधिकार है। अपने जैसा सभी प्राणियों को सुख दुःख का अनुभव होता है। इसलिए "किसी भी प्राणी को सताना नहीं, दुःख नहीं देना, परिताप नहीं पहुंचाना, प्राणों का अतिपात नहीं करना और दूसरों से इस तरह का व्यवहार नहीं कराना" ऐसे शाश्वत् धर्म का उपदेश देते थे। जीओ, जीने दो और जीने वालों को सहयोग करो—यही उनकी श्रमण परंपरा का मूलमंत्र था। महावीर स्वयं श्रमण थे और बाद में श्रमणों के शासक बने, तीर्थंकर बने। श्रम करने वाले श्रमण, स्वाश्रित (रहने वाले) श्रमण, स्वयं सेवक श्रमण, जो आत्मा के प्रकाश को—चैतन्य को, ज्ञान को प्राप्त करने के लिये सतत् यत्नशील है—वही श्रमण कहलाता है। ऐसे श्रमणों की चर्या या उनके द्वारा देशित मार्ग श्रमण धर्म कहलाता है। भारत में आदिनाथ के बाद दो परंपराएं चलती आ रही हैं, एक श्रमण परंपरा और दूसरी ब्राह्मण परंपरा। दोनों ही पहले आगार एवं अणगार धर्म की एक ही धर्म परम्परा थी; लेकिन धीरे-धीरे प्रवृत्ति (ब्राह्मण धर्म) और निवृत्ति (श्रमण धर्म) प्रधान दो मार्ग बन गये। ये ही परम्पराएं ब्राह्मण धर्म और श्रमण धर्म के नाम से पुकारी जाने लगीं। महावीर ने अपने उपदेश में सच्चे श्रमण और सच्चे ब्राह्मण में कोई अन्तर नहीं माना और "समणो माहणो" शब्दों का बार-बार प्रयोग किया। ईर्षा और द्वेष की अग्नि ने स्पष्ट दो धाराएं बहादीं और एक दूसरे से किनारा कर लिया। परस्पर द्वेषाग्नि प्रज्ज्वलित की गई। एक धारा बिल्कुल अहमन्य बनकर अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए पशु आदि के यज्ञ करने, स्त्रियों तथा शूद्रों को वेद पठन के लिए अनधिकृत करने, ईश्वर को सृष्टि का कर्ता एवं हर्ता मानने और वर्णाश्रम व्यवस्था एवं वर्णभेद को प्रधानता देने लगी। वह ब्राह्मण परम्परा कहलाई।

महावीर ने जन जागृति का बीड़ा उठाया और गौतम आदि ग्यारह ब्राह्मण परम्परा के आचार्यों को अपनी ओर आकर्षित कर,

श्रमण परम्परा में उनके हजारों शिष्यों सहित दीक्षित किया।

भगवान् महावीर ने किसी भी परम्परा या मान्यता की निन्दा नहीं की, अपितु समन्वय एवं अनेकांत सिद्धांत से सबसे प्रेम का वातावरण बनाया। सत्वेद अर्थात् सम्यग्ज्ञान का प्रचार किया और सम्यग्ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र को मोक्ष का मार्ग घोषित किया। आत्मा को परमात्मा का ही पूर्ण रूप बताकर आत्मा की मलीनता दूर कर—कर्म मैल को दूर कर—परमात्मा बनने का मार्ग प्रशस्त किया। स्त्रियों और शूद्रों को अन्य उच्च जातियों के समान अधिकार दिये। श्रमण परम्परा में दीक्षित कर परमात्मा बनने एवं वेदपाठ करने के पूर्ण अधिकारी बनाये। पशु हिंसा वाले यज्ञों का निषेध कर, उनका प्रचलन बिल्कुल बन्द करा दिया। वर्णाश्रम एवं वर्णभेद व्यवस्था को मिटादी और पात्रता को स्थान दिलाया। ईश्वर कर्ता की जगह 'अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य' का प्रचार किया। जनता पुरुषार्थशील और स्वकर्म में रत बनी।

भगवान् महावीर ने तीर्थ की स्थापना की। श्रमण, श्रमणी, श्रावक एवं श्राविकाएं इस तरह चतुर्विध संघ की स्थापना कर वीर शासन व्यवस्थित किया। वीर शासन ही आगे जाकर जैन शासन कहलाया। 'जैन धर्म' शब्द का जैन शासन के लिये प्रयोग करना वीर के श्रमण धर्म के विपरीत पड़ता है। धर्म तो सबका एक है, अखण्ड है, शाश्वत है तथा सर्व काल एवं सर्व क्षेत्र के लिए समान है। धर्म के टुकड़े नहीं हो सकते। एक दूसरे को सहयोग करना, अपने आप में स्थिर होना और स्वत्व को प्राप्त करना ही धर्म का विराट् रूप है। धर्म के मुख्य अंग-अहिंसा, संयम और तप हैं। "धम्मो मंगलं मुक्किट्ठं अहिंसा संयमो तवो।" इसी तरह अहिंसा, सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य एवं निष्परिग्रह ये धर्म के पांच स्तम्भ हैं, जिन पर धर्म टिका हुआ है। धर्म की प्राप्ति के अर्थात् जीव के स्वभाव-चैतन्यगुण प्राप्ति के तीन मार्ग हैं—

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। अतएव हम जैन धर्म शब्द का व्यवहार जैन मजहब के नाम पर करते हैं, वह गलत है। दरअसल हमें जैन शासन कहना चाहिये।

प्रस्तुत लेख में श्रमण धर्म का उल्लेख करते हुए मैंने कई बातें लिख दीं। श्रमण धर्म वास्तविक धर्म है, जो आत्मा को सत् चित् एवं आनन्दमय बनाता है। पूर्ण ब्रह्म एव परमात्मा के रूप में बना देता है। श्रमण धर्म महाव्रतों के पालन करने में और श्रावक धर्म अणुव्रतों को पालन करने में है। जो सच्चा श्रमण होता है वही सच्चा ब्राह्मण होता है। श्रमण निर्ग्रन्थ भगवान् महावीर ने श्रमण धर्म का प्रसार कर दुनिया में शांति और व्यवस्था कायम करने में पूर्ण सहकार किया। उन्होंने स्याद्‌वाद, अपेक्षावाद, नयवाद और प्रमाणवाद से वस्तु तत्त्व को समझने का तरीका बताया। संसार की सभी मान्यताओं में कुछ सार अपेक्षाकृत रहा हुआ है, यह समझाया। सभी से प्रेम से मिल कर निभने के लिए समन्वय मार्ग प्रशस्त किया। इस तरह अनेकान्त सिद्धांत की स्थापना की। अनेकांत सूर्य का प्रकाश विश्व के कण-कण में व्याप्त है, यह समझाया। एकान्तवाद को मिथ्या घोषित किया। अनेकान्त को सम्यक्त्व सूर्य बताया। श्रमण धर्म की प्रबल परम्परा को इसी माध्यम से विश्व में प्रशस्त कर श्रमण भगवान् महावीर ने मिथ्यांधकार में सम्यक्त्व का प्रकाश किया।

— श्रमण संदेश

# निर्वाण शताब्दी वर्ष की इति श्री

अनेकान्त सिद्धान्त के प्रवर्तक और अपरिग्रह के अवतार तथा अहिंसा के प्रतीक भगवान् महावीर के अनुयायियों की ढाई हजार वर्षोंपरान्त दी गई श्रद्धांजलियाँ, किये गये प्रदर्शन, रचे गये निर्माण कार्य और प्रसारित किये उपदेश, जितना प्रबुद्धजनों, व्यापारियों और सन्तों को समय मिला प्रशस्ति को उतने ही फलित हुए। सच्ची श्रद्धांजलि ढाई हजार वर्ष के फैले हुए एकान्त-मिथ्यात्व आग्रह-परिग्रह और हिंसा के विसर्जन और एक संघ, एक मान्यता, एक श्रुत और एक प्रचार प्रवर्तना के लिए विशेष कुछ नहीं किया। दिगम्बरों ने अपनी परिषदों एवं महासभाओं द्वारा सब प्रचार-प्रसार किया और स्थाई निर्माण भी किये। श्वेताम्बरों और अन्य जैनों ने भी अपनी भक्ति को राष्ट्रीय, प्रान्तीय एवं सांप्रदायिक प्रचार-प्रसार क्रियाओं में मूर्त रूप किया।

वीर की पूजा, वीर की भक्ति, वीर की अनुसरणा और वीर की उपदेश प्रवृत्ति को किसी ने अपनाई, यह ज्ञात नहीं हुआ। प्रचार प्रोपेगेण्डा जितना होना चाहिए वह भी नहीं हुआ। विश्व धर्म की प्रतिष्ठा दिलाने वाले जैनियों ने विश्व के प्रांगण में इसकी कितनी प्रतिष्ठा दिलाई, इसका लेखा-जोखा करना चाहिए। प्रकाशन, प्रचार,

प्रभावना निर्माण और अहिंसा तथा एकता प्रचार की सही स्थिति प्राप्त करना चाहिए ।

वर्ष भर करना था किया लेकिन वीर संघ के लिए करना चाहिए था, नहीं कर पाये । एकान्त आग्रह छोड़कर अनेकान्त धर्म की प्रति-स्थापना हमारे आचार्य, प्रवर्तक और महाजन नहीं करा सके । अपनी प्रतिष्ठा, अपने संघ की प्रतिष्ठा और अपनी सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा में जो कुछ किया वह वीर के लिए कैसे हो सकता है ?

है कोई वीर का सच्चा अनुयायी । जो छाती पर हाथ रख कर कह दे कि मैंने वीर के लिए, वीर धर्म के लिए जिन धर्म के लिए साम्प्रदायिकता, एकान्त, हिंसा, परिग्रह और आग्रह का इस वर्ष में त्याग कर दिया है और नये विश्व धर्म के वातावरण में आने को तैयार हूं ।

वीर अनन्त ज्ञान, दर्शन और चरित्र में रम रहा है । सिद्ध है । उसे किसी की कोई अपेक्षा नहीं, लेकिन हम भक्त कहलाने वाले उनके पथ पर कितना चल पाये हैं । इस निर्वाण वर्ष की परिसमाप्ति पर भी देख लें, सोच लें और परख लें, तो सच्ची श्रद्धांजलि के भागी बन सकेंगे ।

सारे वर्ष में मैंने जितना कुछ लिखा उस पर किसी ने ध्यान नही दिया, न एक संवत्सरी हो सकी और न एकता के सूत्र ही पिरोये जा सके । एक ग्रन्थ, एक प्रतीक और एक झंडा भी सर्व मान्य नहीं बन सके ।

जब तक परिग्रही और एकान्ती अनुयायी धर्म प्रचार प्रवर्तन और अनुपालना का कार्य करेंगे । खाली प्रदर्शन होगा । प्रसिद्धि मिलेगी । दर्शन और सिद्धि नही मिल सकती ।

भगवान् महावीर सिद्धि चाहते हैं। उपलब्धि चाहते हैं। सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चरित्र चाहते हैं। उन्हें इन स्तूपों, प्रदर्शनों, प्रकाशनों मंदिरों, उद्यानों, नगरों, मार्गों औग उत्खननों के अम्बार की जरूरत नहीं है। जो कुछ त्याग किया और आत्मवरण किया, वह उनकी श्रद्धांजलि हुई है, शेष दिखावा मात्र है।

—जैन प्रकाश

१५ जनवरी, ७६ सुधर्मा मासिक
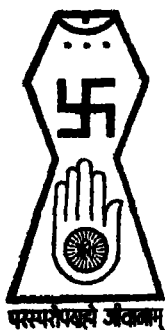
# सर्वज्ञ महावीर का विश्वात्मरूप उपदेश

जो अपने आपको सर्व प्रकार से जान लेता है, वह संसार के सम्पूर्ण पदार्थों को सब तरह से जान लेता है। जो संसार के सम्पूर्ण द्रव्यों के गुण पर्यायों को पूर्णतया जानता है, वह अपनी आत्मा का पूर्ण रूप पा जाता है। वही सर्वज्ञ कहलाता है। ऐसे सर्वज्ञ महावीर, अनन्त ज्ञान के धनी, जीव और जड़ के गुण पर्यायों के सतत् जानकार, जगत् कल्याण मार्गों के अन्वेषक आत्मा के परम लक्ष्य मुक्ति को वरण करने वाले, क्षायिक सम्यक्त्व और सरल सिद्धि के साधक, सच्चिदानन्दी, अनन्त और अखण्ड प्रकाश वीर्य और आनन्द के आगार, परमात्मा, अनेकान्त दृष्टा और समन्वय सृष्टा थे। उन्होंने अपने अनन्त ज्ञान के प्रकाश में पाया—

**"सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई पसन्द नहीं करता और सभी जीव सुख चाहते हैं, दुःख से घबराते हैं।"**

१. "स्वयं जीओ, दूसरों को जीने दो और जीने वाले की मदद करो तथा मरने वाले को अभयदान दो—बचाओ।"

(क) संसार के दु.ख और सतापों से घबराकर आत्महत्या मत करो। सीमित साधनों से अपने प्राणों की रक्षा

करते हुए संयम की आराधना करो और जीवन को आराम से व्यतीत करो। सहज भाव से जीओ। अपना जीना दूसरों के लिए बोझ रूप न हो और सभी प्राणी अपने जीने को अनुकूल मानें। अपने जीने का स्वागत करें, और अपने जीने को याद करें।

(ख) **दूसरों को जीने दो**— दूसरे जीवों को अपने या पराये निमित्त मत मारो। उनके प्राणो का हरण मत करो। ऐसा कोई कार्य अथवा व्यवहार न करो, जिससे दूसरे जीवों के प्राणों का नाश हो या कष्ट पहुंचे। दूसरे प्राणियों पर अपने विचार भी मत थोपो और दूसरों के विचारों को सुनने, समझने और उसके अनुसार संतोष देने का प्रयास करो। दोनों का हित हो, ऐसा कार्य करो।

(ग) **जीने वाले की मदद करो**—असहाय और दुःखी जीवों को अपने प्राप्त साधनों के निसर्जन एवं सहयोग दान से मदद करो। उनको संयम एवं शान्तिमय जीवन जीने देने में हो सके, तो अपने सुखों, साधनों एवं प्राणों का भी विसर्जन कर दो। ऐसा जीवन जीओ जो दूसरों के लिये बाधक नहीं, अपितु साधक बने।

(घ) **मरने वालों को अभयदान दो**—कोई प्राणी अपने भोगोपभोग या स्वसुख प्राप्ति के लिए अथवा हास्यादि मूर्खता के कारण दूसरों को मारता है, तो उन मरते प्राणियों को प्रत्येक प्रयोग से प्राण रक्षा कर अभय दान दो। उचित प्रक्रियाओं द्वारा भयभीत एवं मरते जीवों को बचाओ और निर्भय करो। अपनी दृष्टि एवं शक्ति रहते किसी जीव को मरने या मारने मत दो। प्राप्त शक्ति एवं साधनों से उनकी रक्षा करो।

(ङ) अमर बन जाओ—संयम और तप द्वारा पुराने कर्मों का क्षय और नये कर्मों का निरोध कर अमर बन जाओ।

२. किसी जीव को दुःख मत दो, मत सताओ और मत मारो।

अर्थात् जैसा सुखद व्यवहार आप अपने प्रति दूसरों का चाहते हैं, वैसा ही सुखद व्यवहार दूसरों के साथ करो। जैसा व्यवहार आप अपने प्रति नहीं चाहते, वैसा दूसरों के साथ व्यवहार मत करो। 'आत्मवत्सर्व भूतेषु' का मन्त्र स्वपर कल्याणकारी है। अपने स्वार्थ एवं लाभ के लिए अथवा यों ही मनोविनोद के लिए दूसरे प्राणियों को कष्ट देने और मारने से उनके प्राणों का अतिपात होता है, प्राणों पर चोट पहुंचने से अन्तरात्मा दुःखी होती है। उससे विपरीत प्रतिद्वन्द्व की भावना उत्पन्न होती है। इस तरह कर्म बंधनों के चक्कर में अनन्त भव भ्रमण की जंजीरों से आत्मा बंध जाती है। यदि हम अपने सुखों के लिए दूसरों के प्राणों एवं सुखों की परवाह नहीं करेंगे तो सब सबल प्राणी अपने साथ भी वही व्यवहार करेगा अथवा वही प्राणी शक्ति सम्पन्न होते ही अपने से बदला लेगा। अतः पारस्परिक समाज एवं जीवन वर्तन में भी किसी जीव को दुःख देना और मारना स्वयं के जीवन को दुःखी बनाना है। जीवन में प्रेम और सहयोग से दूसरे प्राणियों को अपना बना लो। "परस्परो उपग्रहो जीवानाम्" के सूत्र से सभी प्राणियों के साथ सुख से जीओ और उनको भी सुखी बनाकर अनन्त सुख की प्राप्ति के प्रयत्नों से अखण्डानंदी बन जाओ।

दोनों उपदेशों की पालना में प्रगति करो—प्राप्त साधनों में संतोष करो। दूसरों के साधन मत लूटो। भोगोपभोगों का संग्रह मत करो। साधनों का संग्रह, ईर्षा, द्वेष कलह, क्रोध, मान, माया, लोभ, चोरी और अशांति का उत्पादक है। ममत्व को त्याग कर, कषायों को जीतकर और समता को धारण कर ऐसा जीवन जीओ, जिससे

जीवन-मुक्त बनकर कषाय-मुक्त सिद्ध बन जाओ और सकल सिद्धि का वरण कर लो। "कषाय मुक्तिः किलरेव मुक्तिः" देश, धर्म, संघ और समाज के हितकारी नियमों का पालन करो। अशांति और अव्यवस्था के कारण न बनो। आचार, विचार और प्रचार में संयम, अनेकान्त, समन्वय और प्रेमभाव का वर्तन हो। आत्मिक चेतना का निरन्तर विकास करो, असत्य से सत्य और अंधकार से प्रकाश की ओर बढ़ते रहो। अपने प्रति सतत जागृति प्रकाश की ओर प्रगति है। आत्मिक प्रकाश ही अनन्त ज्ञान का भण्डार है। सारा विश्व उसमें स्वतः प्रतिभासित होता है। विश्वमय बन जाने पर अखण्ड आनन्द स्वयंमेव प्रवाहित होता है।

जैनप्रकाश

२६ फरवरी, १९७६
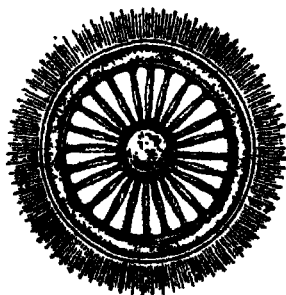
**डॉ० नरेन्द्र भानावत**, एम.ए., पी-एच. डी.
प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय

निवास
सी-235 ए, तिलक नगर,
जयपुर-4

पं० उदय जैन का तेजस्वी व्यक्तित्व, उन्मुक्त चिन्तन और समाज को अहिंसक नव रचना के धरातल पर प्रतिष्ठित करने का संकल्प-स्वप्न इस पुस्तक में संगृहीत निबन्धों में प्रकट हुआ है।

ये निबन्ध विभिन्न अवसरों पर अलग-अलग ढंग से सोचे और लिखे गये हैं पर सभी में रूढ़िगत परम्पराओं से मुक्त होकर प्रगतिशील सामाजिक चेतना और आध्यात्मिक स्फुरणा को वरण करते हुए विश्वात्म भाव जागृत करने का सन्देश निहित है।

भावों की तीव्रता, भाषा की रवानगी और शैली की रोचकता के कारण ये निबन्ध पठनीय तो हैं ही, नये ढंग से सोचने-समझने की भी प्रेरणा देते हैं।

मुझे विश्वास है, पंडितजी की इस पुस्तक का व्यापक स्तर पर स्वागत होगा।

—**डॉ० नरेन्द्र भानावत**
सम्पादक "जिनवाणी"